THE IDEA OF GOD IN EARLY RELIGIONS

F. B. JEVONS

The Idea of God in Early Religions

This ebook is for the use of anyone anywhere in the United States and most other parts of the world at no cost and with almost no restrictions whatsoever. You may copy it, give it away or re-use it under the terms of the Project Gutenberg License included with this ebook or online at www.gutenberg.org. If you are not located in the United States, you will have to check the laws of the country where you are located before using this eBook.

Title: The Idea of God in Early Religions

Author: F. B. Jevons

Release date: May 5, 2008 [eBook #25338]

Language: English

Credits: E-text prepared by Juliet Sutherland, Jeannie Howse, and the Project Gutenberg Online Distributed Proofreading Team (http://www.pgdp.net)

*** START OF THE PROJECT GUTENBERG EBOOK THE IDEA OF GOD IN EARLY RELIGIONS ***

E-text prepared by Juliet Sutherland, Jeannie Howse,
and the Project Gutenberg Online Distributed Proofreading Team
(http://www.pgdp.net)

THE IDEA OF GOD
IN EARLY RELIGIONS

BY

F. B. JEVONS, Litt.D.

Professor of Philosophy in the
University of Durham

Cambridge:
at the University Press
1913

First Edition, 1910

Reprinted 1911, 1913

With the exception of the coat of arms at the foot, the design on the title page is a reproduction of one used by the earliest known Cambridge printer, John Siberch, 1521

[v]

ToC

In The Varieties of Religious Experience the late Professor William James has said (p. 465): 'The religious phenomenon, studied as an inner fact, and apart from ecclesiastical or theological complications, has shown itself to consist everywhere, and at all its stages, in the consciousness which individuals have of an intercourse between themselves and higher powers with which they feel themselves to be related. This intercourse is realised at the time as being both active and mutual.' The book now before the reader deals with the religious phenomenon, studied as an inner fact, in the earlier stages of religion. By 'the Idea of God' may be meant either the consciousness which individuals have of higher powers, with which they feel themselves to be related, or the words in which they, or others, seek to express that consciousness. Those words may be an expression, that is to say an interpretation or a misinterpretation, of that

[vi]

चेतना। लेकिन शब्द चेतना नहीं हैं: वह अनुभूति, जिसके बिना चेतना का अस्तित्व नहीं है, शब्दों के उच्चारण या श्रवण के समय अनुपस्थित हो सकती है। हालाँकि, शब्दों के माध्यम से ही हमें दूसरों की अनुभूति और चेतना तक पहुँचना है, और यह निर्धारित करना है कि इस प्रकार पहुँची हुई अनुभूति और चेतना सभी व्यक्तियों में, हर जगह और हर अवस्था में, कितनी और किस हद तक समान है।

एफबी जेवॉन्स.

हैटफील्ड हॉल,
डरहम।
अक्टूबर, 1910

[सात]

अंतर्वस्तु

पृष्ठ ग्रन्थसूचीनौवींमैं।परिचय1द्वितीय.पौराणिक कथाओं में ईश्वर का विचार30तृतीय.उपासना में ईश्वर का विचार60चतुर्थ.प्रार्थना में ईश्वर का विचार103वीईश्वर का विचार और अस्तित्व152 अनुक्रमणिका167

[आठ]

टीओसी

एलन, ग्रांट. ईश्वर के विचार का विकास. लंदन, 1897.

नृविज्ञान और क्लासिक्स। ऑक्सफ़ोर्ड, 1908।

बास्टियन, ए. वोक्स- अंड मेन्सचेनकुंडे। बर्लिन, 1888.

बूसेट, डब्ल्यू. धर्म क्या है? (अंग्रेज़ी अनुवाद)। लंदन, 1907.

क्रॉले, ए.ई. द आइडिया ऑफ द सोल. लंदन, 1909.

फॉसी, सी. ला मैगी असीरिएन। पेरिस, 1902.

फ्रेज़र, जे.जी. अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ द किंगशिप. लंदन, 1895.

—— द गोल्डन बॉफ़. लंदन, 1900.

—— साइकीज़ टास्क. लंदन, 1909.

गार्डनर, पी. आधुनिकता और चर्च। लंदन, 1909।

हॉबहाउस, एल.टी. मोरल्स इन इवोल्यूशन. लंदन, 1906.

हॉफडिंग, एच. धर्म का दर्शन (अंग्रेजी अनुवाद)। लंदन, 1906.

हॉलिस, ए.सी. द मसाई. ऑक्सफ़ोर्ड, 1905.

—— द नंदी. ऑक्सफोर्ड, 1909.

जेम्स, डब्ल्यू. धार्मिक अनुभव की विविधताएँ. लंदन, 1902.

जस्ट्रो, एम. जून. धर्म का अध्ययन. लंदन, 1901.

जेवन्स, एफ.बी. धर्म के इतिहास का परिचय। लंदन, 1896।

—— धर्म विकास में। लंदन, 1906।

—— तुलनात्मक धर्म का अध्ययन। लंदन, 1908।

लैंग, ए. मैजिक एंड रिलिजन. लंदन, 1901.

—— धर्म का निर्माण। लंदन, 1898।

[एक्स]

मैकेंज़ी, डब्ल्यू.डी. द फ़ाइनल फ़ेथ. लंदन, 1910.

मैरेट, आर.आर. धर्म की दहलीज. लंदन, 1909.

मिशेल, एच.बी. टॉक्स ऑन रिलिजन. लंदन, 1908.

नासाउ, आर.एच. पश्चिम अफ्रीका में बुतपरस्ती। लंदन, 1904।

पार्कर, के.एल. द यूहलयी ट्राइब. लंदन, 1905.

सॉसाए, पीडीसी डे ला। धर्मसंदेश. फ्रीबर्ग मैं. बी., 1889.

शास्च्मिड्ट, सी. डाई रिलिजन। लीपज़िग, 1907.

थॉम्पसन, आर.सी. सेमिटिक मैजिक. लंदन, 1908.

टिस्डाल डब्ल्यू. सैंट सी. तुलनात्मक धर्म. लंदन, 1909.

धर्मों के इतिहास की तीसरी अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस के लेन-देन। ऑक्सफ़ोर्ड, 1908।

टायलर, ई.बी. प्रिमिटिव कल्चर. लंदन, 1873.

वेस्टरमार्क, ई. नैतिक विचारों की उत्पत्ति और विकास. लंदन, 1906.

वुंड्ट, डब्ल्यू वोल्करसाइकोलॉजी। लीपज़िग, 1904-6.

[1]

टीओसी

परिचय

प्रत्येक बच्चा जो जन्म लेता है, वह एक समुदाय से और एक ऐसे समुदाय में जन्म लेता है, जो उसके जन्म से पहले अस्तित्व में था और उसकी मृत्यु के बाद भी अस्तित्व में रहेगा। वह उस भाषा को बोलना सीखता है जो उसके जन्म से पहले समुदाय बोलता था, और जो समुदाय उसके जाने के बाद भी बोलता रहेगा। भाषा सीखने में वह न केवल शब्द, बल्कि विचार भी प्राप्त करता है; और जो शब्द और विचार वह प्राप्त करता है, जो विचार वह सोचता है और जिन शब्दों में वह उन्हें उच्चारित करता है, वे उस समुदाय के होते हैं जिससे उसने उन्हें सीखा, जिसने उसे जन्म से पहले सिखाया था और उसके मरने के बाद भी सिखाता रहेगा। वह न केवल शब्द बोलना और विचार

सोचना सीखता है, बल्कि अपने परिवेश के समुदाय की तरह, अपनी वाणी के रूप में, विचार-प्रणाली को भी पुनरुत्पादित करना भी सीखता है: उसे अपने आस-पास के लोगों की तरह व्यवहार करना भी सिखाया और सीखा जाता है—जैसा समुदाय ने किया है और करने की प्रवृत्ति रखता है। समुदाय—पहले परिवार का संकुचित समुदाय, और,

[2]

इसके बाद, वह व्यापक समुदाय जिससे परिवार जुड़ा है—उसे सिखाता है कि उसे कैसे बोलना चाहिए, क्या सोचना चाहिए और कैसे कार्य करना चाहिए। बच्चे की चेतना उस समुदाय की चेतना को पुनरुत्पादित करती है जिससे वह जुड़ा है—वह सामान्य चेतना, जो उससे पहले भी थी और उसके बाद भी बनी रहेगी।

सामान्य चेतना न केवल वह स्रोत है जिससे व्यक्ति अपनी वाणी, विचार और क्रिया का ढंग प्राप्त करता है, बल्कि वह अपील न्यायालय भी है जो यह तय करता है कि क्या तथ्य है। यदि यह प्रश्न उठाया जाता है कि क्या किसी वैज्ञानिक प्रयोग का परिणाम वही है जो प्रयोग के मूल निर्माता ने कहा है, तो अपील सामान्य चेतना की ओर होती है: जो कोई भी वर्णित तरीके से प्रयोग करने का चुनाव करता है, उसे परिणाम कथित प्रकार का ही मिलेगा; यदि प्रयोग के दौरान अन्य सभी लोग इसे ऐसा पाते हैं, तो यह सामान्य चेतना के एक तथ्य के रूप में स्थापित हो जाता है; यदि कोई अन्य इसे ऐसा नहीं पाता है, तो कथित खोज एक तथ्य नहीं, बल्कि एक गलत अनुमान है।

अब, केवल बाह्य तथ्यों या इंद्रियों द्वारा ग्रहण किए गए तथ्यों के संबंध में ही सामान्य चेतना को अपील की अदालत के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता है। आरोप यह हो सकता है कि किसी विशिष्ट प्रकार की भावना—चिंता या भय, आश्चर्य या विस्मय—विशिष्ट परिस्थितियों में, सामान्य चेतना के एक तथ्य के रूप में अनुभव की जाती है। या व्यक्तियों के एक समूह का एक समान उद्देश्य, एक समान विचार, साथ ही एक समान

[3]

मान लीजिए, सामान्य भय की भावना। यदि उद्देश्य, विचार या भावना उनके लिए समान है और उन सभी द्वारा अनुभव की जाती है, तो यह उनकी सामान्य चेतना का एक तथ्य है। इस मामले में, जैसा कि विज्ञान में किसी भी कथित लेकिन विवादित खोज के मामले में होता है, सामान्य चेतना ही अपील की अदालत है जो तथ्यों का फैसला करती है, और यह निर्धारित करती है कि क्या कोई व्यक्ति जो सोचता है कि उसने अपनी चेतना में खोज की है, वह वास्तव में सामान्य चेतना का एक तथ्य है। मनुष्य से श्रेष्ठ शक्तियों का विचार, विस्मय या श्रद्धा की भावना, जो विचार के साथ जुड़ी हुई है, और संबंधित शक्ति के साथ संवाद करने का उद्देश्य, ये सभी तथ्य हैं, जो किसी एक या किसी अन्य व्यक्तिगत चेतना के लिए विशिष्ट नहीं हैं, बल्कि समस्त मानवजाति की सामान्य चेतना के तथ्य हैं।

एक निश्चित आयु तक बच्चे में आत्म-चेतना का अभाव होता है: आत्म-चेतना का अभाव बच्चों के आकर्षणों में से एक है। बच्चा अपने बड़ों की नकल करता है, जो उसके बारे में और उससे उसके नाम से बात करते हैं। वह अपने बारे में तृतीय पुरुष में बोलता है, प्रथम पुरुष एकवचन में नहीं, और स्वयं को अपने नाम से दर्शाता है, न कि पुरुषवाचक सर्वनाम 'मैं' से; अंततः बच्चा प्रथम पुरुषवाचक सर्वनाम का प्रयोग सीख जाता है और कुछ हद तक उसका अर्थ भी सीख लेता है; अर्थात, यदि उस समुदाय की भाषा, जिससे वह संबंधित है, इतनी विकसित हो गई हो कि उस सर्वनाम का निर्माण हो सके। क्योंकि वाणी के विकास में एक ऐसा काल था जब अभी तक प्रथम पुरुषवाचक सर्वनाम का विकास नहीं हुआ था; और संभवतः,

[4]

इसका सीधा सा कारण यह है कि जिस विचार का यह निरूपण करता है, वह समुदाय के लिए उतना ही अज्ञात था जितना कि उस बच्चे के लिए जिसकी आत्म-चेतना का अभाव इतना सुखद है। एक अवधि तक, जिसकी अवधि लाखों वर्ष रही होगी, सामान्य चेतना, समुदाय की चेतना, ने भाषा या विचार में, व्यक्तिगत आत्मा के अस्तित्व की खोज या भेद नहीं किया।

इस विचार का महत्व इस प्रश्न से जुड़ा है कि उस काल में मनुष्य से श्रेष्ठ शक्तियों का विचार किस रूप में सामान्य चेतना में प्रकट हुआ। धर्म विज्ञान के कई अध्येताओं का मानना है कि धर्म के इतिहास में बहुदेववाद से पहले बुतपरस्ती का उदय हुआ; और इसमें कोई संदेह नहीं कि बुतपरस्ती की कीमत पर ही बहुदेववाद फला-फूला। लेकिन बुतपरस्ती और बहुदेववाद में वास्तव में क्या अंतर है? अब कोई भी यह नहीं मानता कि बुतपरस्ती में विश्वास करने वाले बुतपरस्ती को एक भौतिक वस्तु के अलावा और कुछ नहीं मानते: हर कोई यह मानता है कि जिस भौतिक वस्तु पर यह शब्द लागू होता है, वह एक आध्यात्मिक सत्ता का निवास स्थान है। विचाराधीन भौतिक वस्तु बुतपरस्ती के लिए वही है जो किसी देवता की मूर्ति किसी देवता के लिए है। यदि वह भौतिक वस्तु, जिसके माध्यम से या जिसमें बुतपरस्ती-आत्मा स्वयं को प्रकट करती है, मानव रूप से कोई समानता नहीं रखती, तो न ही वे प्राचीनतम स्तम्भ या खण्ड जिनमें देवता स्वयं प्रकट होते हैं, मानव रूप से कोई समानता रखते हैं।

[5]

ऐसे अविकसित स्तंभ स्वयं हमें यह नहीं बताते कि वे अपने उपासकों के लिए बुत हैं या देवता। धर्म विज्ञान का विद्यार्थी जिस कसौटी से इस प्रश्न का निर्धारण करता है, वह बहुत सरल है: वह यह कि विचाराधीन वस्तु की पूजा कौन करता है? यदि वस्तु किसी व्यक्ति की निजी संपत्ति है, तो वह बुत है; यदि समग्र समुदाय द्वारा उसकी पूजा की जाती है, तो वह, या यों कहें कि उसमें प्रकट होने वाली आत्मा, समुदाय का देवता है। दोनों प्राणियों के कार्य तदनुसार भिन्न होते हैं: देवता समुदाय की प्रार्थनाएँ ग्रहण करता है और उन्हें स्वीकार करने का अधिकार रखता है; बुत में उस व्यक्ति की इच्छाएँ पूरी करने का अधिकार होता है जो उसका स्वामी होता है। कार्य में इस अंतर का परिणाम यह है कि चूँकि व्यक्ति की इच्छाएँ समुदाय के अन्य सदस्यों के कल्याण के साथ असंगत हो सकती हैं; चूँकि बुत का उपयोग समुदाय के अन्य सदस्यों को चोट पहुँचाने और उनकी मृत्यु का कारण बनने के लिए किया जा सकता है, और वास्तव में किया भी जाता है; बुत समाज-विरोधी होता है और समुदाय के लिए खतरा होता है, जबकि समुदाय का देवता स्पष्ट रूप से समुदाय के लिए एक शरणस्थली और सहायता के रूप में मौजूद होता है। बुतपरस्ती व्यक्ति की, स्वयं की इच्छाओं को पूरा करती है; भगवान समुदाय की प्रार्थनाओं को सुनता है।

आइए अब हम समुदाय के विकास के उस चरण पर लौटें जब समुदाय की न तो भाषा और न ही विचार ने व्यक्तिगत आत्मा के अस्तित्व को खोजा था या उसमें भेद किया था। यदि उस चरण में सामान्य

[6]

चेतना मनुष्य से श्रेष्ठ शक्तियों का कोई भी विचार, चाहे वह कितना ही धुंधला या भ्रमित क्यों न हो; यदि वह विचार किसी भावना से प्रभावित या प्रभावित हो, चाहे वह भय, विस्मय या श्रद्धा की हो; यदि वह भावना किसी भी प्रकार की कार्रवाई को प्रेरित करती हो; तब ऐसी शक्तियों को बुत नहीं माना जाता था, क्योंकि बुत का कार्य व्यक्ति की स्वयं की इच्छाओं को पूरा करना होता है; और जब तक व्यक्ति की स्वयं की उपस्थिति का एहसास नहीं हो जाता, बुत के लिए कोई कार्य नहीं होता।

यह संभव है कि आत्म-चेतना का क्रमिक विकास, और भाषा द्वारा आत्म-बोध को मूर्त रूप देने में सहायक धीमी गति, शुरू से ही, और उसके साथ-साथ, बुतपरस्ती के विचार का क्रमिक विकास भी हुआ हो। लेकिन एक ऐसी

शक्ति के विचार का विकास, जो स्वयं की इच्छाओं को पूरा कर सके, समुदाय के हितों से अलग और अक्सर उनके विपरीत, एक ऐसी शक्ति के विचार के विकास को प्रेरित करेगा जिसका विशेष और विशिष्ट कार्य समग्र रूप से समुदाय के हितों की रक्षा करना था। इस प्रकार बुतपरस्ती का विचार और ईश्वर का विचार केवल तभी कायम रह सकते थे जब वे एक-दूसरे के साथ अधिकाधिक असंगत और विरोधाभासी होते जाएँ। यदि दोनों विचारों की रेखाएँ एक ही बिंदु से शुरू होतीं, तो उनका जितना अधिक अनुसरण किया जाता, वे उतनी ही अलग होती जातीं। और धर्म के बाद के और उच्चतर चरणों से बुतपरस्ती के लुप्त होने की प्रवृत्ति यह दर्शाने के लिए पर्याप्त है कि

[7]

किसी शक्ति या मनुष्य से बड़ी सत्ता की सामान्य चेतना में निहित विचार की पर्याप्त या संतोषजनक अभिव्यक्ति प्रदान करना। वह विचार धर्म के इतिहास में, स्वयं को खोजने या अभिव्यक्ति देने के लिए निरंतर प्रयासरत रहा है; यह निरंतर यह खोजता रहता है कि उसने स्वयं के लिए जो अभिव्यक्तियाँ खोजी हैं, वे उसे गलत करती हैं; और यह निरंतर ऐसी अभिव्यक्तियों को एक ओर फेंकता रहता है, या फेंकने की प्रक्रिया में है। बुतपरस्ती को बहुदेववाद से पहले ही एक ओर फेंक दिया गया था: क्योंकि यह न केवल अपर्याप्त थी, बल्कि उस विचार के विपरीत भी थी जिसने इसे जन्म दिया था। भय और संदेह की भावनाएँ, जिनके साथ समुदाय बुतपरस्ती को देखता था, उस विस्मय या श्रद्धा से भिन्न भावनाएँ थीं जिसके साथ समुदाय अपने देवताओं के पास जाता था।

व्यावहारिक रूप से व्यक्ति की स्वयं के प्रति, या समुदाय की व्यक्ति के प्रति, स्वयं से भिन्न रूप में, जागृत होती चेतना को जो चीज़ उत्तेजित और उद्दीप्त करती है, वह है एक की इच्छाओं, आकांक्षाओं, हितों और दूसरे की इच्छाओं, आकांक्षाओं और हितों के बीच का अंतर। हालाँकि एक के हित कभी-कभी दूसरे के हितों से भिन्न होते हैं, फिर भी कुछ मामलों में, व्यक्ति के हित—भले ही वे विशुद्ध रूप से व्यक्तिगत हित हों—समुदाय के हितों से असंगत नहीं होते; और अधिकांश मामलों में वे उनके समान होते हैं—व्यक्ति समुदाय के हितों की सेवा करके अपने हितों को बढ़ावा देता है, और

[8]

अपनी सेवा करके समुदाय के लोगों को बढ़ावा देता है। संक्षेप में, एक के हित दूसरे के हितों से इतने स्पष्ट और स्पष्ट रूप से अलग नहीं हैं, कि व्यक्ति को हमेशा अपने स्वार्थों या अपनी निजी इच्छाओं को संतुष्ट करने की कोशिश करने के लिए निंदा की जा सके। यह संभवतः एक कारण है कि पश्चिमी अफ्रीका में बुतपरस्ती इतनी व्यापक और इतनी लंबे समय तक जीवित रही है, उदाहरण के लिए: हालांकि बुतपरस्ती का इस्तेमाल असामाजिक उद्देश्यों के लिए किया जा सकता है, उनका इस्तेमाल उन उद्देश्यों के लिए भी किया जा सकता है और किया जाता है जो यदि स्वार्थी हैं तो असामाजिक नहीं हैं, या उन्हें असामाजिक नहीं माना जाता है। एक बुत के व्यक्तिगत मालिक को यह महसूस नहीं होता है कि उसका स्वामित्व उसे समुदाय की सदस्यता से अलग करता है या करना चाहिए। और जब तक ऐसी भावना आम है, तब तक देवताओं और बुतपरस्ती के बीच एक अनिर्णायक संघर्ष जारी रहता है।

अब यही कारण—किसी व्यक्ति को अपने स्वार्थ सिद्ध करने के लिए दोषी ठहराने की असंभवता—जांच करने पर कहीं और, यानी जादू-टोने में भी प्रभावी पाया जाएगा। जादू का धर्म से संबंध उतना ही संदेह और विवाद का विषय है जितना कि बुतपरस्ती का धर्म से। और मैं जादू के साथ भी उसी तरह व्यवहार करने का प्रस्ताव करता हूँ जैसे मैंने बुतपरस्ती के साथ किया है। ऐसा करने के लिए मैं जो औचित्य प्रस्तुत करता हूँ, वह उनके बीच खींची जा सकने वाली समानता या सादृश्य में निहित है। सामान्य चेतना में आत्मा और आत्मा के बीच जो अंतर होता है, वह

[9]

समुदाय स्वयं को इस तथ्य में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करता है कि व्यक्ति के हित और इच्छाएँ समुदाय की रुचियों और इच्छाओं से भिन्न, और फिर भी भिन्न नहीं, महसूस की जाती हैं; और इसलिए उन्हें सामान्य चेतना के दृष्टिकोण से निंदनीय, फिर भी निंदनीय नहीं, माना जाता है। अब, जादू के बारे में यही निर्णय दिया जाता है, चाहे वह कहीं भी किया जाए। यह निंदनीय है, इसे संदेह, भय और निंदा की दृष्टि से देखा जाता है; और फिर भी इसे सामान्य स्वीकृति के साथ देखा और अभ्यास किया जाता है। इसका उपयोग समुदाय की ओर से और समुदाय की भलाई के लिए, और सार्वजनिक स्वीकृति के साथ किया जा सकता है, जैसा कि तब होता है जब इसका उपयोग समुदाय की ज़रूरत के अनुसार बारिश कराने के लिए किया जाता है। इसे सहिष्णुता के साथ देखा जा सकता है, जैसा कि तब होता है जब यह माना जाता है कि यह समुदाय को नुकसान पहुँचाए बिना किसी व्यक्ति के लिए लाभकारी है। लेकिन जब इसका उपयोग हत्या जैसे उद्देश्यों के लिए किया जाता है, जिसकी सामान्य चेतना निंदा करती है, तो इसकी निंदा की जाती है, और शायद दंड भी दिया जाता है। तदनुसार, जिस व्यक्ति में जादू के नाम से जाने जाने वाले चमत्कार करने की शक्ति होती है, उसे निंदा, सहनशीलता या अनुमोदन की दृष्टि से देखा जाता है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह अपनी शक्ति का उपयोग उन उद्देश्यों के लिए करता है जिनकी सामान्य चेतना निंदा करती है, सहन करती है या अनुमोदन करती है। ऐसा व्यक्ति जो शक्ति प्रयोग करता है वह उसकी व्यक्तिगत शक्ति होती है; और फिर भी यह एक तरह से उससे बड़ी और उससे भिन्न शक्ति होती है, क्योंकि यह हमेशा उसके नियंत्रण या आदेश में नहीं होती: चाहे

[10]

चाहे वह इसका प्रयोग समुदाय के लाभ के लिए करे या किसी व्यक्ति की हानि के लिए, वह इस बात पर भरोसा नहीं कर सकता कि यह हमेशा सफल होगा। और यह तथ्य अपने प्रभाव और परिणामों से रहित नहीं है। यदि वह इसका प्रयोग किसी व्यक्ति की हानि के लिए करने का प्रयास कर रहा है, तो वह अपनी असफलता को अपनी कार्यप्रणाली में हुई किसी त्रुटि या किसी प्रतिद्वंद्वी की प्रति-क्रिया के कारण बताएगा। लेकिन यदि वह इसका प्रयोग समुदाय के लाभ के लिए कर रहा है, तो असफलता दूसरों को संदेह में डाल देती है कि क्या उसके पास समुदाय की ओर से कार्य करने की शक्ति है; जबकि, इसके विपरीत, एक सफल निर्गमन यह स्पष्ट करता है कि उसके पास शक्ति है, और समुदाय और स्वयं उसकी राय में, उसे एक असाधारण स्थिति में रखता है: उसकी शक्ति वास्तव में एक तरह से उसकी व्यक्तिगत है, लेकिन यह उससे बड़ी और उससे भिन्न भी है। उसकी और समुदाय की उसकी यह भावना, सामान्य चेतना की स्वीकृति और इस भावना से पुष्ट और संवर्धित होती है कि सामान्य चेतना और समुदाय की इच्छाओं के अनुरूप एक शक्ति, उसमें और उसके माध्यम से कार्य कर रही है। इस प्रकार प्रयोग की गई, जनहित के लिए चमत्कार करने की यह शक्ति, स्पष्ट रूप से किसी भविष्यवक्ता द्वारा चमत्कार करने की शक्ति के अधिक निकट है, बजाय किसी चुड़ैल द्वारा चोट पहुँचाने या मृत्यु का कारण बनने की शक्ति के। और, जैसा कि मैंने पहले ही सुझाव दिया है कि देवता और बुतपरस्त वस्तुएँ किसी पूर्व अनिश्चित अवधारणा से विकसित हुई होंगी, जो न तो थी और न ही बन सकती है।

[11]

दोनों में से कोई भी नहीं; इसलिए अब मैं यह सुझाव दूँगा कि चमत्कार जादू नहीं हैं, न ही जादू चमत्कार हैं, बल्कि दोनों को एक ही स्रोत से अलग किया गया है। और यदि बहुदेववादी देवता, जो वहाँ पाए जाते हैं जहाँ बुतपरस्ती में विश्वास किया जाता है, हमें 'पूर्ण व्यक्तित्व' की अवधारणा के विकास में एक बहुत ही निम्न स्तर पर प्रस्तुत करते हैं, तो उसी प्रकार चमत्कारों के प्रकार, जिनमें विश्वास किया जाता है, जहाँ जादू में विश्वास पनपता है, हमें एक सर्वशक्तिमान ईश्वर की अवधारणा के विकास में एक बहुत ही निम्न स्तर पर प्रस्तुत करते हैं। तैरने वाली कुल्हाड़ियों की नोकें मूल रूप से ऐसी ही निम्न स्तर की रही होंगी; और साँपों में बदल जाने वाली छड़ें 'मिस्र के जादूगरों' के साथ-साथ हारून की भी संपत्ति थीं।

तो, वह सामान्य स्रोत, जिससे समुदाय की भलाई के लिए चमत्कार करने, या किसी एक व्यक्ति के हित में और शायद दूसरे को नुकसान पहुँचाने के लिए जादू करने की शक्ति प्रवाहित होती है, एक व्यक्तिगत शक्ति है, जो अपने आप में—अर्थात्, जिस उद्देश्य से इसका प्रयोग किया जाता है और उसके परिणामों से अलग—समुदाय के दृष्टिकोण से न तो प्रशंसनीय है और न ही निंदनीय; और इसलिए, जब तक स्वयं और समुदाय के बीच का अंतर स्पष्ट नहीं हो जाता, और स्वयं या दूसरे के हितों और समुदाय के हितों के बीच विचलन की संभावना का एहसास नहीं हो जाता, तब तक सामान्य चेतना द्वारा इसकी न तो निंदा की जा सकती है और न ही प्रशंसा की जा सकती है। इसके अलावा, यह शक्ति, चाहे किसी भी रूप में प्रकट हो,

[12]

प्रयोग, एक मज़बूत व्यक्तित्व का प्रतीक है; और शायद यह व्यक्तित्व के तथ्य का पहला उदाहरण है, क्योंकि यह निस्संदेह व्यक्तित्व के तथ्य का सबसे प्रभावशाली प्रकटीकरण है: यह तुरंत ही, ऐसी शक्ति रखने वाले व्यक्ति को शेष समुदाय से अलग कर देता है। और सामान्य चेतना इस प्रेत से भ्रमित हो जाती है। जिस प्रकार वह बुतपरस्ती को सहन कर लेती है, हालाँकि वह उन्हें अस्वीकार करती है और उनसे डरती है, उसी प्रकार वह जादूगर को भी सहन कर लेती है, हालाँकि वह उससे डरती है और उसे पूरी तरह से स्वीकार नहीं करती, तब भी जब वह समुदाय को नुकसान पहुँचाए बिना किसी व्यक्तिगत ग्राहक को लाभ पहुँचाता है। हालाँकि शक्तिशाली व्यक्ति अपनी शक्ति का प्रयोग किसी व्यक्ति के हित में और समुदाय के अहित में कर सकता है, और प्रायः करता भी है; और हालाँकि यह निंदनीय प्रयोग सर्वत्र सबसे अधिक प्रत्यक्ष है, और संभवतः सबसे पहले विकसित हुआ है; फिर भी कोई कारण नहीं है कि वह समुदाय की ओर से समुदाय की खाद्य आपूर्ति को बढ़ावा देने या वांछित वर्षा लाने के लिए अपनी शक्ति का प्रयोग न करे, और वास्तव में वह कभी-कभी करता भी है। इस स्थिति में, व्यक्ति, जिसके पास ऐसी शक्ति होती है जो दूसरों के पास नहीं होती, समुदाय से असहमत नहीं होता, बल्कि सामान्य चेतना के साथ सामंजस्य में होता है, और वह एक ऐसा अंग बन जाता है जिसके द्वारा समुदाय कार्य करता है। जब, समुदाय के हितों को ध्यान में रखते हुए, ईश्वर में विश्वास सामान्य चेतना के भीतर प्रकट होता है या विकसित होता है, तो वह व्यक्ति जिसके पास समुदाय की ओर से निर्णय लेने की शक्ति होती है,

[13]

बारिश कराना या खाद्य आपूर्ति बढ़ाना समुदाय के विश्वास से चिह्नित होता है—या यह उसके अपने हृदय के संवादों से भी हो सकता है—जो विशेष रूप से देवताओं से संबंधित है। इसलिए, हम धर्म के विकास के निम्न चरणों में, वे कार्यवाहियाँ पाते हैं, जिनके द्वारा शक्तिशाली व्यक्ति ने समुदाय के लिए वर्षा कराई या खाद्य आपूर्ति में वृद्धि की, या तो देवताओं के अनुष्ठान में शामिल कर ली गईं, या किसी नबी के जीवन की घटनाओं के रूप में पारंपरिक रूप से जीवित रहीं, जैसे एलिजा द्वारा वर्षा कराना। इसलिए, जिस प्रकार मैंने सुझाया है कि देवताओं और बुतपरस्ती के बीच समानताओं को इस सिद्धांत द्वारा समझाया जाना चाहिए कि दोनों एक ही स्रोत से जुड़े हैं, और कोई भी दूसरे से विकसित नहीं हुआ है, उसी प्रकार मेरा सुझाव है कि नबी और जादूगर की अवधारणा के बीच समानताएँ किसी एक की दूसरे पर प्राथमिकता की ओर नहीं, बल्कि दोनों की एक पूर्ववर्ती और कम निश्चित अवधारणा से व्युत्पत्ति या विकास की ओर इशारा करती हैं।

जिस प्रकार एक बुतपरस्ती एक भौतिक वस्तु है, और उससे भी अधिक, उसी प्रकार एक जादूगर एक मनुष्य है और उससे भी अधिक। जिस प्रकार एक देवता एक मूर्ति है और उससे भी अधिक, उसी प्रकार एक पैगम्बर या पुजारी एक मनुष्य है और उससे भी अधिक। बुतपरस्ती एक भौतिक वस्तु है जो एक ऐसी शक्ति प्रकट करती है जो अन्य वस्तुओं में नहीं होती; और जादूगर एक ऐसा मनुष्य है जिसके पास एक ऐसी शक्ति होती है जो अन्य मनुष्यों में नहीं होती। जादूगर और पैगम्बर या पुजारी के बीच का अंतर बुतपरस्ती और ईश्वर के बीच के अंतर जैसा ही है।

यही अंतर है

[14]

व्यक्ति की इच्छाओं की पूर्ति करने वाली, जो असामाजिक हो सकती है और प्रायः होती भी है, और समुदाय के हितों को आगे बढ़ाने वाली, के बीच का अंतर स्पष्ट होता है। समुदाय में जन्म लेने वाला प्रत्येक बच्चा अपने बड़ों से इस अंतर के बारे में सीखता है: यह समुदाय की सामान्य चेतना का हिस्सा है। और यह तब तक सामान्य चेतना का एक तथ्य नहीं बन सकता था जब तक कि स्वयं के अस्तित्व को विचारों में मान्यता न मिले और भाषा में अभिव्यक्त न किया जाए। व्यक्ति और समुदाय के बीच, एक की इच्छाओं और दूसरे के कल्याण के बीच अंतर, या संभावित अंतर की इस मान्यता के साथ ही बुतपरस्ती और ईश्वर, जादूगर और पुजारी के बीच अंतर की मान्यता आई। दोनों में से किसी के द्वारा प्रयोग की जाने वाली शक्ति मनुष्य की शक्ति से अधिक थी; लेकिन एक में प्रकट शक्ति का प्रयोग समुदाय की भलाई के लिए किया गया था; दूसरे के मामले में, ऐसा नहीं था। इस प्रकार, शुरू से ही, देवता केवल मनुष्य से अधिक शक्ति का प्रयोग करने वाले प्राणी नहीं थे, बल्कि वे प्राणी थे जो मनुष्य की भलाई के लिए अपनी शक्ति का प्रयोग करते थे। ऐसा इसलिए है कि, शुरू से अंत तक, वे समुदाय की सामान्य चेतना में और समुदाय में जन्मे प्रत्येक सदस्य की चेतना में, दोनों में मौजूद रहे हैं। वे दोनों में मौजूद रहे हैं; और, क्योंकि वे व्यक्तिगत चेतना और सामान्य चेतना, दोनों में मौजूद रहे हैं, इसलिए वे शुरू से ही,

[15]

कुछ ऐसा जो दोनों के लिए मौजूद है, कुछ ऐसा जो एक साथ व्यक्ति के भीतर और बाहर दोनों जगह मौजूद है। लेकिन जैसे बच्चा अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक होने से बहुत पहले ही वस्तुओं को पहचान लेता है, वैसे ही मनुष्य भी, अपनी शैशवावस्था में, इस शक्ति या सत्ता को अपने भीतर खोजने से बहुत पहले ही बाहरी दुनिया में खोज लेता है।

चूँकि मनुष्य ने इस सत्ता या शक्ति को बाह्य जगत में खोजा था, इसलिए उसे वह वहाँ मिली, या उसने सोचा कि उसे वह वहाँ मिल गई है। उसने उसे खोजा और पाया, ठीक उसी तरह जैसे आज तक अफ़्रीकी नीग्रो को कोई बुत मिलता है। एक नीग्रो को एक पत्थर मिला और उसने उसे अपनी बुत समझ लिया, जैसा कि प्रोफ़ेसर टायलर इस प्रकार बताते हैं:—'वह एक बार किसी ज़रूरी काम से बाहर जा रहा था, लेकिन दहलीज़ पार करते हुए वह इस पत्थर पर पैर रखकर गिर पड़ा और खुद को चोट पहुँचा ली। हा! हा! उसने सोचा, क्या तुम वहाँ हो?' इसलिए उसने पत्थर उठा लिया, और इसने उसे कई दिनों तक अपने काम में मदद की।' इसी प्रकार, जब समुदाय का ध्यान बाह्य जगत की किसी चीज़, किसी प्राकृतिक घटना, जो उनकी नज़र में अद्भुत है, से आकर्षित होता है, तो उनकी मनोवृत्ति, सामान्य चेतना की मनोवृत्ति, शब्दों में अनुवादित होती है: 'हा! हा! क्या तुम वहाँ हो?' यह मनोवृत्ति प्रत्याशा की है: मनुष्य को एक ऐसी सत्ता मिलती है, जो मनुष्य से भी अधिक शक्तिशाली होती है, क्योंकि वह उसे पाने के लिए तैयार है और उसकी प्रतीक्षा कर रहा है।

यह अपेक्षा इतनी प्रबल है, मनुष्य इस सत्ता को, जो मनुष्य से श्रेष्ठ है, खोजने के लिए इतना तत्पर है कि वह जहाँ भी जाता है, जहाँ भी देखता है, उसे वहीं मिल जाता है।

[16]

संभवतः कोई भी प्राकृतिक घटना ऐसी नहीं है जिसने कहीं न कहीं, किसी न किसी समय, यह प्रश्न या विचार न जगाया हो कि 'क्या तुम वहाँ हो?' और ऐसा इसलिए है क्योंकि मनुष्य ने इस प्रश्न का उत्तर देने और यह कहने का बीड़ा उठाया है: 'तुम वहाँ हो, उस प्रचंड और तेज़ हवा में जो पहाड़ों को चीरती है; या भूकंप में; या आग में,' जिससे

बहुदेववाद का उदय हुआ है। हालाँकि, शायद हमें 'बहुदेववाद' के बजाय 'बहुदेववाद' शब्द का प्रयोग करना चाहिए। ईश्वर से आमतौर पर एक ऐसे प्राणी का अर्थ होता है जिसका एक उचित नाम हो गया हो; और, संभवतः, एक आत्मा की पूजा काफी समय तक की जाती है, इससे पहले कि जिस नाम से उसे संबोधित किया जाता है, वह अपना मूल अर्थ खो दे, और वह उचित नाम बन जाए जिससे उसे, और केवल उसे ही, संबोधित किया जाता है। निस्संदेह, वह अवस्था जिसमें बिना उचित नामों वाली आत्माओं की पूजा की जाती है, उस अवस्था से कहीं अधिक आदिम प्रतीत होती है जिसमें पूजित प्राणी एक देवता होता है जिसका अपना एक उचित नाम होता है। और बहुदेववाद और बहुदेववाद के दो चरणों के बीच का अंतर केवल इस तथ्य तक सीमित नहीं है कि बाद के चरण में पूजे जाने वाले प्राणियों के उचित नाम होते हैं, जबकि पहले चरण में कोई नाम नहीं था। भाषा में विकास या अंतर, विचार में विकास या अंतर का संकेत देता है। यदि पूजे जाने वाले प्राणी या आत्मा को उचित नाम से नामित किया गया है, तो वह उस अस्पष्टता को खो देता है जो एक अनाम आत्मा की विशेषता है, और वह कहीं अधिक निश्चित और कहीं अधिक व्यक्तिगत हो जाता है।

[17]

वास्तव में, धार्मिक दृष्टिकोण से, एक बहुत अधिक भयावह परिवर्तन तब घटित होता है, जब बहुदेववाद से बहुदेववाद की ओर संक्रमण पूरा हो जाता है।

मानव विकास की उस अवस्था में, जिसे जीववाद कहते हैं, हर वह चीज़ जो कार्य करती है—या करने वाली मानी जाती है—मनुष्य की तरह ही एक व्यक्ति मानी जाती है। हालाँकि, जीववादी अवस्था में, मनुष्य सभी शक्तियों को व्यक्ति मानता है, फिर भी उन सभी को मानव रूप में नहीं मानता: वे पशु हो सकते हैं, और उनके पशु रूप हो सकते हैं; या पक्षी हो सकते हैं, और उनके पक्षी-रूप हो सकते हैं; वे वृक्ष, बादल, नदियाँ, वायु, भूकम्प या अग्नि हो सकते हैं। इनमें से कुछ में, या यों कहें कि सभी में, मनुष्य ने कभी न कभी मनुष्य से बड़ी सत्ता या शक्ति पाई है, जिसकी वह हमेशा से खोज में रहा है, और प्रत्येक से बारी-बारी से पूछता रहा है, 'क्या तुम वहाँ हो?' प्रश्न का रूप, पुरुषवाचक सर्वनाम का प्रयोग, दर्शाता है कि वह एक व्यक्ति की खोज कर रहा है। और धर्म विज्ञान के विद्यार्थी आम तौर पर इस बात पर सहमत हैं कि धर्म के इतिहास में मनुष्य, मनुष्य से श्रेष्ठ और उससे बड़ी किसी शक्ति या सत्ता की खोज करता रहा है। इसलिए, मनुष्य अपने धार्मिक इतिहास में एक व्यक्तिगत शक्ति और एक व्यक्तिगत सत्ता की खोज में रहा है। उसने अपनी खोज को कई दिशाओं में आगे बढ़ाया है—अक्सर एक साथ अलग-अलग दिशाओं में; और, उसने एक के बाद एक खोज को छोड़ दिया है, क्योंकि उसने पाया है कि यह उसे उस दिशा में नहीं ले जा रही है जहाँ उसे पहुँचना चाहिए था। इस प्रकार, जैसा कि हमने देखा है, उसने आगे बढ़कर,

[18]

साथ ही, वह बुतपरस्ती और बहुदेववाद, या यूँ कहें कि बहुदेववाद की ओर भी बढ़ा; लेकिन बुतपरस्ती उसे संतुष्टि नहीं दे पाई, या यूँ कहें कि सामान्य चेतना, समुदाय की चेतना को संतुष्ट नहीं कर पाई, क्योंकि परीक्षण के दौरान यह व्यक्ति की इच्छाओं—असामाजिक इच्छाओं—की पूर्ति करने वाला साबित हुआ, न कि समुदाय के हितों की। वे प्राणी या शक्तियाँ जिन्हें मनुष्य ढूँढ़ना चाहता था और जिनके बारे में उसने मान लिया था कि उसने पा लिया है, चाहे वे इस या उस वस्तु में बुत के रूप में हों, या आकाश, अग्नि या वायु में, पशु, पक्षी या वृक्ष में दानवों के रूप में हों, उन्हें व्यक्तिगत प्राणी और व्यक्तिगत शक्तियाँ मान लिया गया, और उनका उससे वही संबंध था जिसमें या जिसके माध्यम से उन्होंने स्वयं को प्रकट किया, जैसा कि मनुष्य अपने शरीर से रखता है। ऐसा प्रतीत नहीं होता कि उन्हें मनुष्य, या मनुष्यों की आत्मा के रूप में माना गया था जो स्वयं को पशुओं या वृक्षों में प्रकट करती हैं। जब तक बहुदेववाद अभी तक बहुदेववाद में नहीं बदला है, तब तक इस या उस बाह्य रूप में पूजे जाने वाले सगुण प्राणियों का मानवरूपीकरण नहीं हुआ है। वास्तव में, बहुदेववाद से बहुदेववाद में परिवर्तन की प्रक्रिया में वह प्रक्रिया शामिल है, या यूँ कहें कि वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा वृक्ष, आकाश, बादल, वायु या अग्नि में पूजे जाने

वाले सगुण प्राणी, धीरे-धीरे मानवरूपीकरण में आ गए—मानवीय अंगों और वासनाओं से युक्त हो गए और उन्हें मानवों की तरह उचित नामों से संबोधित किया जाने लगा। लेकिन जब मानवरूपीकरण

[19]

इस प्रकार जब बहुदेववाद अपने चरम तार्किक निष्कर्षों पर पहुँच जाता है, तो उसकी प्रवृत्ति उसी प्रकार और उन्हीं कारणों से ढहने की होती है, जैसे उससे पहले बुतपरस्ती ढह गई थी। मनुष्य शुरू से ही जिसकी तलाश में था, और अब भी तलाश कर रहा है, वह कोई व्यक्तिगत सत्ता या शक्ति थी, जो मनुष्य से ऊँची और श्रेष्ठ हो। मानवरूपी बहुदेववाद ने उसे अंततः ऐसे प्राणी दिए, जो श्रेष्ठ नहीं थे, बल्कि कुछ या अनेक मामलों में, मनुष्य से निर्विवाद रूप से निम्नतर थे। इस प्रकार, उसके बाद उनकी पूजा नहीं की जा सकती थी। यूरोप में उनकी पूजा को ईसाई धर्म ने उखाड़ फेंका। लेकिन, विचार करने पर, यह न केवल स्पष्ट प्रतीत होता है कि, इस प्रकार, उसके बाद उनकी पूजा नहीं की जा सकती थी; बल्कि यह भी कि, इस प्रकार, उनकी कभी पूजा ही नहीं की गई थी। समुदाय की चेतना में, पूजा का विषय, शुरू से ही, मनुष्य से श्रेष्ठ कोई व्यक्तिगत सत्ता रही है। ईसाई धर्म के प्रचारक बहुदेववादियों से उस ईश्वर के बारे में उचित रूप से बात कर सकते हैं 'जिसकी तुम अज्ञानतापूर्वक पूजा करते हो।' यह सत्य है, और इस पर ध्यान देना महत्वपूर्ण है कि बलिदान, अनुष्ठान और समारोह, जो मिलकर पूजा की सेवा का निर्माण करते थे, सचेतन और जानबूझकर मानव रूप में देवताओं को अर्पित किए गए थे; और इस अर्थ में, मानवरूपी देवताओं की पूजा की गई थी। लेकिन, यदि पूजा बलिदान, अनुष्ठान और समारोह से भिन्न कुछ है, तो पूजा का विषय—व्यक्ति, मनुष्य से भी बड़ा—को प्रस्तुत किया गया है।

[20]

सामान्य चेतना, मानवरूपी सत्ता से भिन्न है, जो मनुष्य से बहुत अधिक निम्न है, जिसके बारे में कवि पौराणिक कथाओं में बात करते हैं और जिसे कलाकार शारीरिक आकार में दर्शाते हैं।

जिस प्रकार अंधभक्ति विकसित हुई और कायम रही, क्योंकि इसमें धार्मिक सत्य का एक तत्व समाहित था, हालाँकि यह विकृत था,—पूजा करने वाले के लिए पूजित शक्ति की सुलभता—उसी प्रकार मानवरूपवाद भी, पौराणिक कथाओं में इसके परिणामों के बावजूद, सत्य के एक तत्व को समाहित करता था, या यूँ कहें कि उस पर आधारित था, अर्थात् यह कि ईश्वर व्यक्तिगत है, साथ ही मानवीय भी। इसकी त्रुटि यह थी कि उसने मानवीय व्यक्तित्व की अनेक प्रतिकृतियाँ या प्रतिबिंब, दिव्य व्यक्तित्वों के रूप में स्थापित कर दिए। यह एक आवश्यक परिणाम के रूप में, इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि दिव्य व्यक्तित्व मानवीय व्यक्तित्व की एक छाया मात्र है, जिसे बादलों पर, यूँ कहें कि, बड़ा और प्रक्षेपित किया गया है, लेकिन हमेशा किसी न किसी रूप में, यह तथ्य प्रकट करता है कि वह मनुष्य की, बढ़ाई हुई या विकृत, छाया मात्र है। यह इस संभावना को नकारता है कि सामान्य चेतना में पूजा की वस्तु के रूप में उपस्थित दिव्य व्यक्तित्व, मानवीय व्यक्तित्व की प्रतिकृति नहीं, बल्कि एक वास्तविकता हो सकती है जिसके निकट पहुँचने की मानवीय व्यक्तित्व में शक्ति है। जैसा भी हो, हम यह कहने में न्यायसंगत हैं, वास्तव में हम यह मानने के लिए बाध्य हैं, कि पौराणिक कथाओं में, पूरे विश्व में, हम चिंतन की एक प्रक्रिया को कार्य करते हुए देखते हैं, जिसके द्वारा प्राणियों को मूल रूप से

[21]

मनुष्य से श्रेष्ठ, पहले मानवरूपी बनते हैं, यानी उनमें मनुष्य के अंश और भावनाएँ पाई जाती हैं, और फिर, परिणामस्वरूप, उन्हें मनुष्यों से बेहतर नहीं माना जाता। यही खोज आगे चलकर मानवरूपवाद के लिए घातक साबित होती है।

हमने ऊपर देखा है कि बुतपरस्ती अंततः सामान्य चेतना के लिए अरुचिकर क्यों हो जाती है: मनुष्य से श्रेष्ठ प्राणी, जिनकी समुदाय द्वारा पूजा की जाती है, उनकी पूजा समुदाय के हितों की रक्षा करने वाले और हृदय में समुदाय की भलाई को सर्वोपरि रखने वाले प्राणी के रूप में की जाती है; जबकि बुतपरस्ती व्यक्ति द्वारा अपने निजी हितों को साधने के लिए, अन्य व्यक्तियों और समग्र समुदाय की कीमत और हानि उठाकर भी, खोजी और पाई जाती है। इस प्रकार, उस प्रारंभिक काल से ही, जब मनुष्य से श्रेष्ठ प्राणियों को देवताओं और बुतपरस्ती में विभेदित किया गया है, देवताओं को सामान्य चेतना द्वारा ऐसे प्राणियों के रूप में स्वीकार किया जाता है जो समुदाय की भलाई को बनाए रखते हैं और उसका उल्लंघन करने वालों को दंडित करते हैं; जबकि बुतपरस्ती ऐसे प्राणी बन जाते हैं जो व्यक्तिगत सदस्यों को जनजाति की प्रथागत नैतिकता का उल्लंघन करने में सहायता करते हैं। इस प्रकार, प्रारंभ से ही, वे प्राणी, जिनके बारे में समुदाय मनुष्य से श्रेष्ठ होने के प्रति सचेत है, वे प्राणी हैं जो पहले जनजाति की प्रथागत नैतिकता और बाद में समुदाय की सचेत नैतिकता के प्रभारी होते हैं।

यह अवधारणा देवताओं को संरक्षक के रूप में दर्शाती थी

[22]

नैतिकता और सार्वजनिक हित की, जिसने बुतपरस्ती की निंदा की; और यही वह अवधारणा थी जिसने अंततः बहुदेववाद की निंदा सिद्ध की। प्राणियों की बहुलता—भले ही वे दिव्य प्राणी हों—का अर्थ है विचारों की बहुलता, अर्थात् विविधता। विचारों की विविधता, मतभेद, यही वह है जो हर पौराणिक कथा में निहित है जो देवताओं के बीच विवादों और युद्धों का वर्णन करती है। प्रत्येक देवता, जिसने इस प्रकार अन्य देवताओं के साथ विवाद और युद्ध किया, उसने अवश्य ही यह महसूस किया होगा कि उसके पक्ष में अधिकार है, या फिर उसने केवल युद्ध के लिए ही युद्ध किया होगा। परिणामस्वरूप, बहुदेववाद के देवता या तो नैतिकता से रहित हैं, या इस बात पर विभाजित हैं कि क्या सही है। इसलिए, किसी भी स्थिति में, पौराणिक कथाओं में वर्णित देवता, मनुष्य से श्रेष्ठ प्राणी नहीं हैं, जो आरंभ से ही सामान्य चेतना में पूज्यनीय थे। आरंभ से ही, समुदाय की पूजा का उद्देश्य एक नैतिक शक्ति के रूप में माना जाता रहा है। यदि बहुदेववाद के अनेक देवता या तो अभावग्रस्त थे या नैतिकता की उपेक्षा करते थे, तो वे वह नैतिक शक्ति नहीं हो सकते थे जिसका सामान्य चेतना को थोड़ा-बहुत बोध था: वह नैतिक शक्ति, वह नैतिक व्यक्तित्व, उनसे भिन्न अवश्य होगा। जिस प्रकार समुदाय की नैतिक चेतना देवताओं से बुतपरस्ती में भेद करती थी और धर्म के क्षेत्र से बुतपरस्ती को बाहर करने की प्रवृत्ति रखती थी; उसी प्रकार, अंततः, समुदाय की नैतिक चेतना भी इन दोनों के बीच असंगति से आहत होने लगी।

[23]

नैतिक आदर्श और अनेक देवताओं की अवधारणाएँ एक-दूसरे से भिन्न हैं। यदि सामान्य चेतना ईश्वरत्व की एकता को पहचानने में धीमी थी—और यह कुछ लोगों में दूसरों की तुलना में धीमी थी—तो यह एकता तार्किक रूप से, शुरू से ही, एक व्यक्तिगत शक्ति की अवधारणा में निहित थी, जो मनुष्य से बड़ी और उच्चतर थी, और जिसके हृदय में समुदाय की भलाई थी। धर्म का इतिहास, वस्तुतः, एक दृष्टिकोण से, उस प्रक्रिया की कहानी है जिसके द्वारा यह अवधारणा, चाहे कितनी भी धुंधली, धुंधली या अस्पष्ट क्यों न हो, प्रारंभ में स्पष्ट और स्व-संगत हो जाती है।

हालाँकि, यह एकमात्र दृष्टिकोण नहीं है जिससे धर्म के इतिहास को देखा जा सकता है, या देखा जाना चाहिए। जब तक हम इसे इस दृष्टिकोण से देखते रहेंगे, तब तक हम धर्म के इतिहास में एक बौद्धिक प्रक्रिया के अलावा कुछ भी नहीं देखने के खतरे में रहेंगे, और धर्म में स्वयं एक मानसिक अवधारणा के अलावा कुछ भी नहीं देखेंगे। हालाँकि, धर्म में एक और तत्व है, जैसा कि आम तौर पर माना जाता है; और वह एक भावनात्मक तत्व है, जैसा कि आमतौर पर स्वीकार किया जाता है। हालाँकि उस भावना की प्रकृति क्या है, यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर

हमेशा से मतभेद रहा है। वे प्राणी, जो सामान्य चेतना में देवताओं के रूप में अवतरित हुए, सामान्य चेतना द्वारा मनुष्य से श्रेष्ठ शक्तियों के रूप में समझे गए; और निश्चित रूप से समुदाय पर दुख पहुँचाने में सक्षम शक्तियों के रूप में। इस प्रकार, तब, उनके पास एक भावना के साथ संपर्क किया गया होगा

[24]

श्रद्धा, विस्मय या भय की प्रकृति। हालाँकि, महत्वपूर्ण, निर्णायक तथ्य यह है कि उनसे संपर्क किया गया था। इसलिए, जिस भावना ने समुदाय को उनसे संपर्क करने के लिए प्रेरित किया, वह उस मात्र भय से अलग है जिसने समुदाय को इन शक्तियों से यथासंभव दूर रखा होगा। जिस भावना ने संपर्क करने के लिए प्रेरित किया, वह शुद्ध और सरल भय नहीं हो सकता था। यह विस्मय या श्रद्धा की प्रकृति में अधिक रहा होगा; दोनों ही भावनाएँ भय से स्पष्ट रूप से भिन्न हैं। इस प्रकार, हम बीमारी या अपमान से डर सकते हैं; लेकिन हम जो भय महसूस करते हैं, उसके साथ न तो विस्मय होता है और न ही श्रद्धा। फिर, विस्मय एक अवरोधक भावना है, यह एक ऐसी भावना है जो - विस्मय से ग्रस्त व्यक्ति के मामले में - कार्य या गति को बढ़ावा देने के बजाय रोकती है। और धार्मिक भावना के बारे में निर्णायक तथ्य यह है कि यह वह भावना थी जिसके साथ समुदाय अपने देवताओं के पास गया था। वह भावना अब, और शायद हमेशा से, श्रद्धापूर्ण चरित्र की है। जिस अवसर पर कोई समुदाय अपने देवताओं के पास जाता है, वह अक्सर, और निस्संदेह अक्सर, वह समय होता था जब समुदाय पर विपत्ति आई होती थी। इस विपत्ति को समुदाय पर देवता के प्रकोप के रूप में देखा जाता था; और भय—वह 'प्रभु का भय, जो ज्ञान का मूल है'—निःसंदेह उस जटिल भावना में एक बड़ी भूमिका निभाता था जिसने समुदाय को भागने के बजाय देवता के पास जाने के लिए प्रेरित किया।

[25]

उसके क्रोध को शांत करने के उद्देश्य से। इस प्रकार की कार्रवाई को जन्म देने वाली भावना की जटिलता में, हमें केवल भय ही नहीं, बल्कि कुछ विश्वास और आत्मविश्वास भी पहचानना चाहिए—कम से कम इतना तो ज़रूर कि जिसने इसे अनुभव किया, वह आसानी से भाग न जाए। यह भावना मनुष्य के लिए बहुत जटिल नहीं है, चाहे वह विकास की कितनी भी प्रारंभिक अवस्था में क्यों न हो: यह उस भावना से ज़्यादा जटिल नहीं है जो एक कुत्ते को उसके मालिक के पास लाती है, हालाँकि वह जानता है कि उसे पीटा जाएगा।

यह निर्विवाद प्रतीत होता है कि एक समुदाय जिस जटिल भावना के साथ अपने देवताओं के पास जाता है, उसमें कुछ भरोसा और विश्वास अपरिहार्य है, जिसका उद्देश्य उनका क्रोध शांत करना है—और उससे भी अधिक, उनसे अनुग्रह प्राप्त करने के लिए। लेकिन हमें इसे बढ़ा-चढ़ाकर नहीं कहना चाहिए। जहाँ कहीं भी देवता हैं, समुदाय उन्हें ऐसे प्राणी मानता है जिनके पास जाया जा सकता है: कम से कम, उनमें विश्वास करने वाले समुदाय को उन पर इतना भरोसा है। यदि वे नाराज और क्रोधित भी हों, तो समुदाय को विश्वास है कि उन्हें शांत किया जा सकता है: समुदाय उन पर इतना भरोसा करता है। वास्तव में उसका भरोसा इससे भी आगे जाता है: उसे यकीन है कि वे बिना उचित आधार के नाराज नहीं होते। यदि वे समुदाय के प्रति क्रोध प्रदर्शित करते हैं और उस पर विपत्ति भेजते हैं, तो यह, और समुदाय की राय में, केवल इसलिए हो सकता है, क्योंकि समुदाय के किसी सदस्य ने वह किया है जो उसे नहीं करना चाहिए था। देवता, कभी-कभी, क्रोधित हो सकते हैं;

[26]

लेकिन वे न्यायप्रिय हैं। वे शुरू से ही नैतिक प्राणी हैं—उस समुदाय के नैतिक मानदंडों के अनुसार—और उनका क्रोध कबीले की पारंपरिक नैतिकता के उल्लंघन पर ही होता है। वे शुरू से ही, और उसके बाद भी धर्म के इतिहास में लंबे समय तक, जो कुछ गलत है उसे पहचानने में सख्त रहे हैं, और इस अर्थ में, वे ईर्ष्यालु देवता हैं। और ईश्वरत्व

का यही पहलू धार्मिक चेतना के क्षेत्र के बड़े हिस्से को भरता है, न केवल उन लोगों के मामले में जो ईश्वरत्व की एकता को पहचानने में विफल रहे हैं, बल्कि यहूदियों जैसे लोगों के मामले में भी, जिन्होंने इसे पहचाना। ईश्वरत्व का दूसरा पहलू, ईश्वर के रूप में, केवल दया और क्षमा का नहीं, बल्कि प्रेम का, एक ऐसा पहलू था जो दुनिया के सभी धर्मों में से केवल ईसाई धर्म में ही पूरी तरह से प्रकट हुआ था।

लेकिन ईश्वर अपने सभी बच्चों के प्रति, उड़ाऊ पुत्र के प्रति और अन्य लोगों के प्रति जो प्रेम प्रदर्शित करता है, वह केवल उसे दिया गया गुण नहीं है। यह केवल एक गुण नहीं है जो एक धर्म उसे प्रदान कर सकता है, और जिसे दूसरा धर्म, समान अधिकार के साथ, उससे वंचित कर सकता है। ईश्वर की अवधारणा केवल गुणों और विशेषताओं से निर्मित नहीं है, इसलिए यदि आप सभी गुणों और विशेषताओं को हटा दें, तो कुछ भी शेष नहीं बचता है, और यह विचार बिना किसी सार, अर्थ या वास्तविकता के दिखाई देता है।

ईश्वरत्व, सामान्य चेतना में, प्रारम्भ से ही, एक सत्ता, एक व्यक्तिगत सत्ता, मनुष्य से महान् रहा है; और इसी रूप में वह मनुष्य से महान् है।

[27]

आदिकाल से लेकर आज तक, उन्होंने स्वयं को सामान्य चेतना में प्रकट किया है। इस व्यक्तित्व पर, अन्य व्यक्तित्वों की तरह, मिथ्या रूप से ऐसे गुण और विशेषताएँ आरोपित की जा सकती हैं जो एक-दूसरे से असंगत हैं और उनके नहीं हैं। इस प्रकार मिथ्या रूप से आरोपित कुछ विशेषताओं का, धर्म के इतिहास में, मिथ्या रूप से आरोपित होना पाया जा सकता है; और फिर उन्हें दरकिनार कर दिया जाएगा। इस प्रकार, बुतपरस्ती ने ईश्वरत्व को बुतपरस्ती के स्वामी की असामाजिक इच्छाओं को भी बढ़ावा देने की तत्परता का गुण आरोपित किया, या आरोपित करने का प्रयास किया। और बुतपरस्ती धार्मिक संरचना से अलग हो गई। मानवरूपवाद, जो ईश्वरीय व्यक्तित्व को मनुष्य के अंगों और वासनाओं के साथ-साथ नैतिकता का उल्लंघन करने की मनुष्य से भी बड़ी शक्ति का भी आरोपण करता था, धीरे-धीरे त्याग दिया जाता है, क्योंकि ईश्वर के विचार के साथ इसकी असंगति धीरे-धीरे पहचानी जाने लगती है और उससे घृणा की जाने लगती है। बहुदेववाद के साथ भी ऐसा ही है: एक देवसमूह जो अपने आप में विभाजित है, टिक नहीं सकता। इस प्रकार, बुतपरस्ती, मानवरूपवाद और बहुदेववाद ईश्वरत्व को गुण प्रदान करते हैं, जिन्हें ईश्वरत्व को सौंपे गए गुणों के रूप में दिखाया जाता है और बाहर से उस पर थोपा जाता है, क्योंकि अंततः अनुभव से पाया जाता है कि वे ईश्वर के विचार के साथ असंगत हैं, जैसा कि यह सामान्य चेतना में प्रकट होता है।

दूसरी ओर, धर्म के इतिहास की प्रक्रिया, ईश्वरत्व के प्रकटीकरण या प्रकाशन की प्रक्रिया, केवल इसी से आगे नहीं बढ़ती।

[28]

नकारात्मक विधि, या बहिष्करण विधि। यदि कोई गुण, जैसे कि मानव रूप, या असामाजिक उद्देश्यों में संलिप्तता, मानवरूपवाद या बुतपरस्ती द्वारा, दिव्य व्यक्तित्व पर आरोपित किया जाता है, और अंततः सामान्य चेतना द्वारा ईश्वर की अवधारणा के साथ असंगत महसूस किया जाता है, तो इसका परिणाम केवल यह नहीं होता कि संबंधित गुण लुप्त हो जाता है, और दिव्य व्यक्तित्व का विचार ठीक वहीं रह जाता है जहाँ वह था, और जो वह था, उस गुण को उस पर थोपे जाने से पहले। गुण की असंगति, जिसे मिथ्या रूप से आरोपित या निर्दिष्ट किया गया है, - यदि, और जब, यह हो जाती है - प्रकट और असहनीय हो जाती है, ठीक उसी अनुपात में जैसे ईश्वर का विचार, जो सामान्य चेतना में हमेशा से मौजूद रहा है, चाहे कितना भी अस्पष्ट और अस्पष्ट क्यों न हो, स्वयं को अधिक निश्चित रूप से प्रकट करने लगता है। दिव्य व्यक्तित्व पर उन गुणों का आरोपित होना, जो अंततः उसके

साथ असंगत पाए जाते हैं, अधिक सटीक और निश्चित अभिव्यक्ति का अवसर साबित हो सकता है; हम कह सकते हैं कि क्रिया प्रतिक्रिया का कारण बनती है, और इसलिए झूठे विचार सच्चे विचारों को जन्म देते हैं, लेकिन झूठे विचार नए विचारों का निर्माण नहीं करते। झूठे विचार सामान्य चेतना के वास्तविक तथ्यों पर अधिक ध्यान आकर्षित कर सकते हैं और इस प्रकार वास्तविक तथ्यों पर ध्यान केंद्रित करके, उनके बारे में अधिक सच्चे विचारों के निर्माण को प्रेरित कर सकते हैं। लेकिन इसी गहन ध्यान, इसी एकाग्रता से नया और सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है, झूठे विचारों से नहीं। हम जो बोलते हैं

[29]

एक दृष्टिकोण से, सामान्य चेतना के तथ्यों पर अधिक ध्यान देने के रूप में, इसे दूसरे दृष्टिकोण से, सामान्य चेतना के समक्ष प्रकट या व्यक्त दिव्य व्यक्तित्व की एक बढ़ती हुई अभिव्यक्ति या एक स्पष्ट रहस्योद्घाटन कहा जा सकता है। ये एक ही प्रक्रिया के दो दृष्टिकोण हैं। लेकिन हम इसे चाहे जिस दृष्टिकोण से देखें, यह प्रक्रिया केवल बहिष्कार की नकारात्मक पद्धति से आगे नहीं बढ़ती: यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके परिणामस्वरूप न केवल किसी भी क्षण सामान्य चेतना में जो कुछ है, उसका प्रकटीकरण और प्रकटीकरण होता है, बल्कि सामान्य चेतना के समक्ष प्रकट दिव्य व्यक्तित्व में जो कुछ निहित है, उसका भी प्रकटीकरण और प्रकटीकरण होता है। यदि हम इस प्रकटीकरण या प्रकटीकरण को विकासवाद कहना चुनते हैं, तो वह प्रक्रिया, जिसे धर्म का इतिहास प्रस्तुत करने का बीड़ा उठाता है, ईश्वर के विचार का विकास होगी। लेकिन, उस स्थिति में, जिस प्रक्रिया को हम विकासवाद कहते हैं, वह प्रकटीकरण और प्रकटीकरण की प्रक्रिया होगी। प्रकटीकरण का तात्पर्य है कि प्रकट करने के लिए कुछ है; प्रकटीकरण, कि सामान्य चेतना के समक्ष प्रकट होने के लिए कुछ है—ईश्वरत्व, दिव्य व्यक्तित्व की उपस्थिति।

[30]

टीओसी

पौराणिक कथाओं में ईश्वर का विचार

यह सामान्यतः स्वीकार किया जाएगा कि ईश्वर का विचार केवल एकेश्वरवादी धर्मों में ही नहीं, बल्कि बहुदेववादी धर्मों में भी पाया जाता है; और, चूंकि बहुदेववाद बहुदेववाद से विकसित हुआ है, अर्थात्, चूंकि बहुदेववाद के व्यक्तिगत प्राणियों या शक्तियों ने समय के साथ उचित नाम और व्यक्तिगत इतिहास प्राप्त कर लिया है, इसलिए बहुदेववाद के साथ-साथ बहुदेववाद में भी दिव्य व्यक्तित्व का कुछ विचार अवश्य ही विद्यमान है; और, इसी प्रकार, मानव से महान व्यक्तित्व का कुछ विचार बहुदेववाद और बुतपरस्ती दोनों के पीछे निहित माना जा सकता है।

अगर हम यह समझना चाहते हैं कि किसी व्यक्ति के मन में क्या विचार हैं, तो हम उसके बोले गए शब्दों और उसके व्यवहार से उनका अनुमान लगा सकते हैं। सबसे स्वाभाविक और स्पष्ट तरीका यही है कि हम उसकी कही बातों से शुरुआत करें। और यही वह तरीका है जिसका पालन धर्म के इतिहास के विद्यार्थियों ने तब किया, जब वे यह जानना चाहते थे कि वास्तव में कौन सा विचार है।

[31]

मनुष्य ने अपने देवताओं के बारे में जो कुछ भी सोचा है। उन्हें जो जानकारी चाहिए थी, उसके लिए उन्होंने पौराणिक कथाओं का सहारा लिया। बाद में, वास्तव में, उन्होंने इस बात की खोजबीन की कि मनुष्य क्या करता

था, अपने देवताओं के पास जाने के लिए उसने कौन-कौन से अनुष्ठान किए; और अगले अध्याय में, हम उस खोजबीन में उनका अनुसरण करेंगे। लेकिन इस अध्याय में हमें यह पूछना होगा कि पौराणिक कथाएँ मनुष्य के अपने देवताओं के बारे में विचार पर क्या प्रकाश डालती हैं।

हालाँकि, ऐसा करने से पहले, हम यह ध्यान दिए बिना नहीं रह सकते कि पौराणिक कथाएँ और बहुदेववाद एक साथ चलते हैं। बुतपरस्ती कोई पौराणिक कथा नहीं रचती। निस्संदेह, किसी बुतपरस्ती का स्वामी जो कार्य करता है, वह जानता है और उसके द्वारा किए गए अद्भुत कार्यों के बारे में बता सकता है। लेकिन वे किस्से ज्ञान के सामान्य भंडार में शामिल नहीं होते; न ही वे सामान्य चेतना द्वारा समुदाय की सभी आने वाली पीढ़ियों को हस्तांतरित किए जाते हैं। भाषा की तरह, पौराणिक कथाएँ भी सामान्य चेतना की कृति और उसकी संपत्ति हैं।

बहुदेववाद, बुतपरस्ती की तरह, पौराणिक कथाओं को जन्म नहीं देता; बल्कि, एक अलग कारण से। बहुदेववाद के काल में पूजे जाने वाले प्राणी वे प्राणी हैं जिनके अभी तक व्यक्तिगत नाम नहीं बने हैं, और परिणामस्वरूप उनका कोई व्यक्तिगत इतिहास नहीं हो सकता। यह कठिनाई वास्तव में पूर्णतः असंभव नहीं है। कहानियाँ कही जा सकती हैं, और कथा साहित्य के इतिहास में एक निश्चित चरण पर, विशेष रूप से प्रागैतिहासिक काल में, ऐसी कहानियाँ कही जाती हैं जिनमें नायक का कोई उचित नाम नहीं होता: वह काल 'एक समय की बात है'

[32]

'एक समय', और नायक सीधे शब्दों में 'एक मनुष्य' है। लेकिन मिथकों में सीधे तौर पर 'ईश्वर' के बारे में नहीं बताया जाता । पौराणिक कथाओं में, मिथक का नायक 'ईश्वर' नहीं होता, किसी भी ईश्वर के अर्थ में जिसे आप चाहें, बल्कि एक विशिष्ट ईश्वर होता है। और इसका कारण स्पष्ट है। कथा साहित्य में कलाकार नायक के साथ-साथ कहानी भी रचता है; और कहानी के आदिम कथावाचक को अपने द्वारा रचित नायक के लिए नाम गढ़ना हमेशा आवश्यक नहीं लगता था। नायक कुछ समय तक बिना किसी उचित नाम के भी काम चला सकता था, और चला भी। लेकिन पौराणिक कथाओं में मामला अलग है। मनुष्य से श्रेष्ठ, वह व्यक्तिगत सत्ता, जिसके बारे में मिथक बताया जाता है, कथावाचक की रचना नहीं है: वह एक ऐसी सत्ता है जिसके अस्तित्व के बारे में समुदाय जानता है। इसलिए, जब वह मिथक का नायक होता है, तो उसे 'ईश्वर - कोई भी ईश्वर जिसे आप चाहें' नहीं कहा जा सकता। न ही मिथक कोई ऐसी कहानी है जिसे किसी भी ईश्वर के बारे में सुनाया जा सके: यदि मिथक एक कहानी है, तो कम से कम यह एक ऐसी कहानी है जिसे इस ईश्वर के अलावा किसी और ईश्वर के बारे में नहीं सुनाया जा सकता। वास्तव में, मिथक कोई कहानी नहीं है: यह एक घटना है - या घटनाओं की एक श्रृंखला है - किसी विशेष व्यक्ति या मनुष्य से श्रेष्ठ प्राणी के व्यक्तिगत इतिहास में।

जब बहुदेववाद बहुदेववाद में परिवर्तित हो जाता है, जब एक के प्राणी व्यक्तिगत नाम और व्यक्तिगत इतिहास प्राप्त कर लेते हैं, और इस प्रकार दूसरे के देवता बन जाते हैं, तब पौराणिक कथाओं का उदय होता है। बहुदेववाद के अंतर्गत ही पौराणिक कथाएँ अपने चरम विकास को प्राप्त करती हैं; और जब बहुदेववाद लुप्त हो जाता है, तो पौराणिक कथाएँ भी उसके साथ लुप्त हो जाती हैं। इस प्रकार, वह प्रकाश जो

[33]

पौराणिक कथाओं से यह अपेक्षा की जा सकती है कि वे ईश्वर के एक होने के विचार को सामने लाएँ, जो कि ईश्वर के बहुदेववादी विचार को भले ही प्रकाशित कर दे, परन्तु बहुदेववाद के क्षेत्र से आगे इसकी चमक नहीं दिखाई देगी।

मिथक तो आख्यान हैं, जिनमें किसी देवता या देवताओं के कार्यों का वर्णन होता है। और वे देवता समुदाय की आस्था में विद्यमान थे, इससे पहले कि उनके बारे में कहानियाँ सुनाई जातीं, या सुनाई जा सकती थीं। इसलिए

मिथक चिंतन का परिणाम हैं—देवताओं और उनके एक-दूसरे से, मनुष्यों से, या संसार से संबंधों के बारे में चिंतन का। पौराणिक कथाएँ मनुष्य के देवताओं में विश्वास का स्रोत नहीं हैं। मनुष्य ने उन प्राणियों के बारे में कहानियाँ सुनाना शुरू नहीं किया जिन्हें वह अपनी कल्पना की रचनाएँ मानता था, और फिर धीरे-धीरे यह मानने की भूल में पड़ गया कि वे उसकी अपनी कल्पना की रचनाएँ नहीं, बल्कि वास्तविक प्राणी हैं। पौराणिक कथाएँ मनुष्य के देवताओं की बहुलता में विश्वास का स्रोत भी नहीं हैं: मनुष्य ने देवताओं को हर जगह, हर बाहरी वस्तु या घटना में पाया, क्योंकि वह हर जगह ईश्वर की तलाश कर रहा था, और हर वस्तु से, बदले में, उसने यह प्रश्न पूछा, 'क्या तुम वहाँ हो?' पौराणिक कथाएँ बहुदेववाद का स्रोत नहीं थीं। बहुदेववाद ही पौराणिक कथाओं का स्रोत था। मिथक हमारे लिए मनुष्यों द्वारा अपने देवताओं के बारे में किए गए चिंतन को सुरक्षित रखते हैं; और किसी भी विषय पर चिंतन तब तक संभव नहीं है जब तक कि वह वस्तु चिंतन के लिए मौजूद न हो। लंबे समय तक चिंतन करने का परिणाम, वास्तव में, उन विचारों में बदलाव हो सकता है जिनसे हमने शुरुआत की थी, क्योंकि

[34]

बेहतर होगा—या, शायद बदतर भी। लेकिन, फिर भी, चिंतन का नतीजा उन विचारों का निर्माण नहीं होता जिनसे वह शुरू हुआ था।

इस दृष्टिकोण से, मैक्स मूलर द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धांत को स्वीकार करना असंभव हो जाता है कि पौराणिक कथाएँ 'भाषा के रोग' के कारण हैं। उनके सिद्धांत के अनुसार, सूर्य के उदय या अस्त होने जैसी सामान्य, प्राकृतिक प्रक्रियाओं के बारे में सरल कथन बनाए जाते थे। फिर, भाषा के रोग के कारण, उन शब्दों या विशेषणों का अर्थ, जिनसे सूर्य या उषा को आरंभ में निर्दिष्ट या वर्णित किया जाता था, मन से निकल जाता था। तब इन विशेषणों को व्यक्तिवाचक नाम माना जाने लगा; और इस प्रकार, जिन लोगों के बीच ये सरल कथन मूलतः कहे गए थे, अंततः उनके पास ऐसे अनेक किस्से थे जिनमें व्यक्तिवाचक नाम रखने वाले और अद्भुत कार्य करने वाले व्यक्तियों के बारे में बताया गया था। इस प्रकार, मैक्स मूलर के सिद्धांत ने न केवल देवताओं के बारे में कही जाने वाली कथाओं की उत्पत्ति का कारण बताया: बल्कि उन देवताओं की उत्पत्ति की भी व्याख्या की, जिनके बारे में ये कथाएँ कही जाती थीं। यह केवल पौराणिक कथाओं का ही नहीं, बल्कि बहुदेववाद का भी मूल सिद्धांत है।

इस प्रकार, मैक्समूलर के सिद्धांत के अनुसार भी, पौराणिक कथाएँ चिंतन का परिणाम हैं - सूर्य, बादल, वायु, अग्नि आदि के कार्यों और व्यवहार पर चिंतन का। लेकिन, उनके सिद्धांत के अनुसार, सूर्य, चंद्रमा आदि को पहले व्यक्ति नहीं माना जाता था: यह केवल 'भाषा के रोग' के कारण था कि वे

[35]

ऐसा माना जाने लगा। केवल यदि हम यह मूल धारणा बना लें, तो ही हम इससे निकाले गए निष्कर्षों को स्वीकार कर सकते हैं; और अब कोई भी विद्यार्थी इस धारणा को स्वीकार नहीं करता: यह एक ऐसी धारणा है जिसे जीववाद के सुस्थापित तथ्यों द्वारा निषिद्ध किया गया है। सूर्य, चंद्रमा, वायु और अग्नि, हर वह चीज़ जो क्रिया करती है, या क्रिया करने वाली मानी जाती है, आदि मानव द्वारा व्यक्तिगत शक्ति से अनुप्राणित मानी जाती है। इसलिए, यदि बाह्य वस्तुएँ, जिनकी ओर मनुष्य ने अपने प्रश्न, 'क्या तुम वहाँ हो?' के साथ रुख किया था, को उसने शुरू से ही व्यक्तिगत शक्ति से अनुप्राणित माना था, तो यह सिद्धांत कि उन्हें ऐसा नहीं माना जाता था, आधारहीन हो जाता है; और, परिणामस्वरूप, हम इसे बहुदेववाद की उत्पत्ति के लिए जिम्मेदार नहीं मान सकते।

निस्संदेह, अपने प्रचलन के दौरान, मैक्स मूलर के सिद्धांत को ठीक इसीलिए स्वीकार किया गया क्योंकि इसने बहुदेववाद की उत्पत्ति का कारण बताया और क्योंकि इसने बहुदेववाद को किसी भी धार्मिक मूल्य या अर्थ से वंचित कर दिया। सिद्धांत के अनुसार, बहुदेववाद किसी भी धार्मिक भावना से नहीं, बल्कि भाषा की एक बीमारी से

उत्पन्न हुआ था। और यह एक ऐसा दृष्टिकोण था जो स्वाभाविक रूप से उन लोगों को पसंद आया जो यह कहने और मानने को तैयार थे कि बहुदेववाद धर्म नहीं है। लेकिन ऐसा कहने के परिणाम ऐसे हैं कि धर्म का कोई भी विज्ञान, या वास्तव में धर्म का कोई भी इतिहास, असंभव हो जाता है। जहाँ ईश्वर का विचार पाया जाता है, वहाँ कोई न कोई धर्म विद्यमान है; और यह कहना कि बहुदेववाद में ईश्वर का कोई विचार नहीं हो सकता

[36]

पाया गया, यह प्रश्न ही नहीं उठता। यदि बहुदेववाद धार्मिक विश्वास के इतिहास में एक चरण है, तो हमें इसे धार्मिक विश्वास के अन्य चरणों के संदर्भ में देखना होगा, जो इससे पहले या बाद में आए। हमें ईश्वर के विचार को, जैसा कि वह बहुदेववाद में प्रकट हुआ था, उस विचार से जोड़ना होगा जैसा कि वह विश्वास के अन्य चरणों में प्रकट हुआ था। ऐसा करने के लिए, हमें पहले यह पता लगाना होगा कि ईश्वर का बहुदेववादी विचार क्या है; और इस उद्देश्य के लिए, हमें, कम से कम पहले, उन मिथकों की ओर रुख करना होगा जो ईश्वरत्व के गुणों और कार्यों, या उन प्राणियों के, जो मनुष्य से श्रेष्ठ हैं और जिनका अस्तित्व सामान्य चेतना द्वारा स्वीकार किया गया था, पर बहुदेववादियों के विचारों को मूर्त रूप देते हैं। हो सकता है कि ईश्वर के विचार पर चिंतन, जो पौराणिक कथाओं में सन्निहित हैं, ने ईश्वर के विचार को इतना नीचा दिखाया हो कि बहुदेववाद के आधार पर धार्मिक प्रगति असंभव हो गई, ठीक उसी तरह जैसे ईश्वर की एक ऐसी सत्ता के रूप में अवधारणा, जो किसी व्यक्ति की असामाजिक इच्छाओं को बढ़ावा देती है, ने बुतपरस्ती के आधार पर धार्मिक प्रगति को असंभव बना दिया। उस स्थिति में, धर्म बहुदेववाद की राह को त्याग देगा, जैसा कि उसने पहले बुतपरस्ती को त्याग दिया था।

'पौराणिक कथा' शब्द के प्रयोग मात्र से ही यह धारणा बन जाती है कि मिथक धर्म का पतन करते हैं। यह एक अवैज्ञानिक शब्द बन गया है, आंशिक रूप से इसलिए क्योंकि सभी मिथक झूठ हैं, और उससे भी अधिक इसलिए क्योंकि उनमें से कुछ तो निन्दनीय झूठ हैं। इसलिए, खुद को यह याद दिलाना ज़रूरी हो जाता है।

[37]

यद्यपि हम उन्हें असत्य मानते हैं, फिर भी उनमें विश्वास करने वालों ने उन्हें असत्य नहीं माना; और उनमें से अनेक अधम नहीं थे। इन बिंदुओं पर एशेलियस और सोफोकल्स साक्षी हैं, जिन पर अविश्वास नहीं किया जा सकता। उनके लेखन में हमें देवताओं के कार्यों और गुणों पर बहुदेववादियों के विचार मिलते हैं। लेकिन एशेलियस और सोफोकल्स द्वारा किए गए विचारों और मिथकों के प्रति उनके दृष्टिकोण को उन मिथकों से अलग किया जाना चाहिए, जो उन्हें आसानी से मिल गए, ठीक उसी तरह जैसे यूरिपिडीज़ से मिथकों को प्राप्त अत्यंत भिन्न दृष्टिकोण और दृष्टिकोण को उनसे अलग किया जाना चाहिए। दोनों ही मामलों में, त्रासदियों द्वारा मिथकों को जो दृष्टिकोण दिया गया, उसे उन मिथकों से अलग किया जाना चाहिए, जो नाटकों के मंचन से पहले और बाद में समुदाय में प्रचलित थे। त्रासदियों के लेखन दर्शाते हैं कि महान कवियों द्वारा मिथकों का क्या अर्थ निकाला जा सकता है। वे यह नहीं दर्शाते कि उन्हें बनाने वाली सामान्य चेतना में मिथक क्या थे। और तीन महान त्रासदियों के बाद पौराणिक कथाओं का इतिहास यह स्पष्ट कर देता है कि एशेलियस जैसे महान लेखक भी पौराणिक कथाओं को उन परिस्थितियों के अलावा कोई अन्य दिशा नहीं दे सके, जिनमें उनकी उत्पत्ति, विकास और प्रगति हुई।

पौराणिक कथाएँ सामान्य चेतना की कृति और उत्पाद हैं। किसी भी समय विद्यमान पीढ़ी इसे पूर्ववर्ती पीढ़ियों से प्राप्त करती है;

[38]

बर्बर से सभ्य पीढ़ियाँ, और बर्बर पीढ़ियाँ अपने बर्बर पूर्वजों से। यदि यह संचरण की प्रक्रिया में विकसित होती है,

और इस प्रकार कुछ हद तक सामान्य चेतना में होने वाले परिवर्तनों को प्रतिबिम्बित करती है, तो भी इसके स्वरूप में बहुत कम परिवर्तन होता है। सामान्य चेतना स्वयं अत्यंत धीमी गति से बदलती है; यह बच्चों के मन जैसी रूढ़िवादिता के साथ जो कुछ प्राप्त करती है उसे धारण करती है; और, जो कुछ यह जोड़ती है, वह, मामले की प्रकृति के अनुसार, उसी पर आधारित होना चाहिए जो इसे प्राप्त हुआ है, और उसके अनुरूप होना चाहिए। लेकिन, यद्यपि सामान्य चेतना धीरे-धीरे बदलती है, फिर भी वह बदलती है: बर्बरता से सभ्यता में परिवर्तन के साथ नैतिक विकास होता है। कुछ मिथक, जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक दोहराए जाते हैं, उन्हें सुनाने वालों के अनुपात में सभ्य और नैतिक बनने में सक्षम हो सकते हैं; लेकिन कुछ नहीं होते। ये उत्तरार्द्ध देवताओं के व्यक्तिगत इतिहास की घटनाएँ हैं, जिन्हें यदि सुनाया भी जाए, तो केवल वैसे ही सुनाया जा सकता है जैसे उन्हें शुरू से ही सुनाया गया था, उनकी पूरी घृणा के साथ। वे सामान्य चेतना की दृढ़ता और रूढ़िवादिता के कारण जीवित रहते हैं; और, जीवित बचे रहने के नाते, वे उस नैतिक विकास की गवाही देते हैं जो उसी समुदाय में हुआ है जो उन्हें संरक्षित करता है। उनके द्वारा आधुनिक विज्ञान की दृष्टि विकास और समाज के उस चरण के बीच के अंतर को मापती है जिसने मूल रूप से उन्हें उत्पन्न किया था और उस चरण के बीच जो उनके द्वारा परेशान होने लगता है।

[39]

वे आधुनिक विज्ञान के प्रयोजनों के लिए मूल्यवान हैं क्योंकि वे उस निरन्तरता के प्रमाण हैं जिसके साथ बाद के चरण पहले के चरणों से विकसित हुए हैं; और, इसलिए भी कि वे उस खोज के पहले बाहरी संकेत हैं जो अंततः की जानी थी, पौराणिक कथाओं और धर्म के बीच अंतर - एक अंतर जो पौराणिक कथाओं के आरंभ से ही अस्तित्व में था, और इसके विकास के दौरान, हालांकि यह शब्दों में अभिव्यक्ति पाने से बहुत पहले भावना के क्षेत्र में मौजूद था।

इतिहास ने वास्तव में यह दर्शाया है कि इन घृणित और घिनौने मिथकों को पूरी पौराणिक व्यवस्था को जड़ से उखाड़े बिना जड़ से नहीं उखाड़ा जा सकता। लेकिन इतिहास ने यह भी दर्शाया है कि पौराणिक कथाओं के विनाश के बाद भी धर्म का अस्तित्व बना रह सकता है, जैसा कि उसके जन्म से पहले था। लेकिन, जिन पीढ़ियों तक मिथकों का संचार हुआ था और जिनके लिए पौराणिक कथाएँ स्वीकृत विश्वास थीं, उन्हें इसका एहसास नहीं हो सका। उनकी नज़र में कुछ मिथकों को बदनाम करने का प्रयास—जैसा कि वास्तव में हुआ भी—पूरी पौराणिक व्यवस्था को उखाड़ फेंकने जैसा था। अगर उन्होंने सोचा—जैसा कि उन्होंने निस्संदेह सोचा था—कि पौराणिक कथाओं का विनाश धर्म के विनाश के समान ही है, तो उनकी भूल उन भूलों में से एक थी जिनमें मानव मन कभी भी गिरने से मुक्त नहीं है। और उनके पास यह और बहाना था कि पौराणिक कथाओं का विनाश तार्किक और

[40]

बहुदेववाद का अनिवार्यतः विनाश निहित है। बहुदेववाद और पौराणिक कथाएँ उनके ईश्वरत्व संबंधी विचार के पूरक अंग थे। इसलिए उनके विचार में निहित असंगति और अनैतिकता का प्रदर्शन विशुद्ध रूप से नकारात्मक और विनाशकारी था; और तदनुसार, जब तक ईश्वरत्व की एकता का उच्चतर विचार सामने नहीं आता, तब तक वे निरर्थक थे।

उस समय तक, बहुदेववाद और पौराणिक कथाएँ संघर्ष करती रहीं। वे बोझिल थे, और जैसे-जैसे समय बीतता गया, वे उन घृणित मिथकों के बोझ से दबे रहे, जिन्हें नकारा या अस्वीकार नहीं किया जा सकता था, बल्कि उन्हें केवल यथासंभव दूर और लंबे समय तक नज़रों से ओझल किया जा सकता था। ये मिथक, चाहे अंततः समुदाय की अंतरात्मा के लिए कितने भी आक्रामक क्यों न हो गए हों, अपने मूल में, वे कथाएँ थीं जो सामान्य चेतना के लिए आक्रामक नहीं थीं, केवल इसलिए कि वे सामान्य चेतना की रचना थीं, उसी द्वारा स्वीकृत थीं और उसी की

स्वीकृति की मुहर के तहत युगों-युगों तक प्रसारित होती रहीं। यदि वे अपने उद्भव के समय सामान्य चेतना के लिए आक्रामक नहीं थे, और बाद में ही आक्रामक हुए, तो इसका कारण यह है कि उनके उद्भव के समय समुदाय की नैतिकता बाद की तुलना में कम विकसित थी। यदि वे आक्रामक हुए, तो इसका कारण यह था कि समुदाय की नैतिकता आगे बढ़ती रही, जबकि वे वही रहे जो वे हमेशा से थे।

[41]

शायद यह पूछा जा सकता है कि समुदाय की नैतिकता क्यों बदलती रहती है, और मिथक क्यों नहीं? इसका कारण यह प्रतीत होता है कि मिथक बच्चे द्वारा बालवाड़ी में सीखे जाते हैं, और नैतिकता मनुष्य द्वारा संसार में सीखी जाती है। परिवार, ग्राम समुदाय, नगर या राज्य की तुलना में एक छोटा समुदाय होता है; और समुदाय जितना छोटा होता है, वह अपने रीति-रिवाजों और परंपराओं के प्रति उतना ही दृढ़ होता है। एथेनियाई बच्चों के जो खिलौने खोजे गए हैं, वे सभी वे खिलौने हैं जिनका उपयोग बच्चे आज भी करते हैं। इलियड में बच्चे समुद्र तट पर रेत के महल बनाते थे, जैसे वे आज भी बनाते हैं; और छोटा बच्चा तब भी अपनी माँ के वस्त्र को खींचता था, जैसे आज भी खींचता है। बच्चे तब भी और आज भी इस बात पर ज़ोर देते थे कि उन्हें सुनाई जाने वाली कहानियाँ हमेशा ठीक वैसी ही सुनाई जाएँ जैसी उन्हें पहले सुनाई गई थीं। बालवाड़ी की कहानियों के नायकों द्वारा प्रदर्शित नैतिकता और वयस्क दुनिया द्वारा अपनाई जाने वाली नैतिकता के बीच के अंतर के बारे में बच्चे को कोई जानकारी नहीं है, इसका पर्याप्त कारण यह है कि वह अभी तक वयस्क दुनिया का हिस्सा नहीं बना है। जब वह वयस्क दुनिया में प्रवेश करता है, तो वह अंतर जान सकता है; लेकिन वह वयस्क दुनिया में तभी प्रवेश कर सकता है, जब उसके लिए कोई हो; और, मनुष्य के बचपन में, ऐसी कोई दुनिया नहीं होती जहाँ वह प्रवेश कर सके, क्योंकि वयस्क स्वयं, भले ही बड़े हो गए हों, मन से अभी भी बच्चे ही होते हैं। रीति-रिवाज और परंपराएँ वयस्क समुदाय पर उतनी ही दृढ़ता से शासन करती हैं, जितनी कि वे बाल समुदाय पर। समय के साथ, वयस्क समुदाय इस व्यवस्था को तोड़ सकता है।

[42]

रीति-रिवाजों और परंपराओं के बंधन; लेकिन बच्चों से बना समुदाय उन्हें संजोकर रखता है और उन्हें आगे बढ़ाता है। इसके बाद, जनजाति के भीतर दो समुदाय होते हैं, एक वयस्कों का और दूसरा बच्चों का। एक समुदाय दूसरे की तरह ही अपने आप में एकरूप है; लेकिन बच्चों का समुदाय जो कुछ उसे मिला है और जो वह आगे बढ़ाता है, उसके प्रति अत्यधिक रूढ़िवादी है—और इसका सीधा सा कारण यह है कि बच्चे तो बच्चे ही रहेंगे। बच्चों के समुदाय की यही एकरूपता उसे अपने रीति-रिवाजों, परंपराओं और विश्वासों को बनाए रखने में सक्षम बनाती है। और जब तक वयस्कों का समुदाय एकरूप है, तब तक वह उन रीति-रिवाजों, परंपराओं और विश्वासों से बहुत कम विचलित होता है, जो उसे उसी स्रोत से विरासत में मिले हैं जहाँ से बच्चों के समुदाय को मिले हैं। ये दोनों समुदाय, बच्चों के और वयस्कों के, जनजाति के बड़े समुदाय के भीतर ही उत्पन्न और विकसित होते हैं। शुरुआत में, वे अत्यंत धीमी गति से विभेदित होते हैं; बच्चों का समुदाय वयस्कों के समुदाय से भी अधिक धीरे-धीरे बदलता है—वयस्कों द्वारा उन्हें त्याग दिए जाने के बहुत बाद तक, उसके हथियार धनुष-बाण ही बने रहते हैं; और बैल-दहाड़ने वाला उसकी नज़र में तब तक पवित्र बना रहता है जब तक वयस्क समुदाय न केवल उसका उपयोग करना छोड़ देता है, बल्कि उसका अर्थ भी भूल जाता है। अपनी कहानियों और मिथकों में वह नैतिकता के उस स्तर की स्मृति को संजोए रख सकता है जिसे वयस्क समुदाय ने पार कर लिया है, और जिसे उसने बैल-दहाड़ने वाले या धनुष को जितना पीछे छोड़ दिया है, उतना ही पीछे छोड़ दिया है।

[43]

और तीर। और नैतिकता का वह स्तर, जिसकी स्मृति वह संजोए हुए है, वह है जहाँ से अतीत में वयस्क समुदाय

का उदय हुआ था। वास्तव में, उभरने के बाद, अंततः, जब उसे पीछे मुड़कर देखने को कहा गया, तो उसने पाया कि वह उस चीज़ की निंदा करने के लिए बाध्य है जिसे उसने पीछे मुड़कर देखा था।

तो फिर, ये मिथक क्या थे, जिनसे नैतिकतावादी समुदाय स्वयं को जूझता हुआ पा सकता है? ये वे कहानियाँ थीं जो समुदाय के मन में तब उत्पन्न हुईं जब वह अभी अपरिपक्व था। ये कहानियाँ देवताओं और उनके कार्यों के बारे में अपरिपक्व मन के विचारों को हमारे लिए सुरक्षित रखती हैं। और चूँकि ये विचार करने वाले मन अपरिपक्व थे, इसलिए जिन मिथकों ने इन विचारों को मूर्त रूप दिया या व्यक्त किया, वे ऐसे थे जिन्हें अपरिपक्व मन स्वीकार कर सकते थे, लेकिन अंततः अधिक परिपक्व मन उन्हें असहनीय पाते थे। शायद यह कहा जा सकता है—और यह न्यायसंगत रूप से कहा जा सकता है—कि अपरिपक्व मन के विचार भी अनिवार्य रूप से सभी गलत नहीं होते, क्योंकि इन्हीं से आधुनिक ज्ञान का विकास हुआ है, ठीक उसी तरह जैसे भाप से चलने वाले हल का आदिम खुदाई करने वाले डंडे से संबंध है: किसी भी चीज़ पर विचार करने से उस चीज़ का बेहतर ज्ञान तो हो सकता है, साथ ही उसके बारे में गलत धारणाएँ भी बन सकती हैं। लेकिन जिन राष्ट्रों ने पौराणिक कथाओं को पीछे छोड़ दिया है, उन्होंने इसे दरकिनार कर दिया है क्योंकि अंततः उन्हें यह विश्वास हो गया है कि इसमें निहित धारणाएँ झूठी धारणाएँ थीं। और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं।

[44]

इस बिंदु पर भी उसी तरह और उसी कारण से जिस तरह वे अन्य मामलों में उसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे; क्योंकि केवल एक ही तरीका है। किसी वस्तु के बारे में हमारे द्वारा निकाले गए अनुमान सत्य हैं या असत्य, यह निर्धारित करने का केवल एक ही तरीका और एक ही परीक्षण है, और वह है अनुभव की परीक्षा। केवल यही इस प्रश्न का समाधान कर सकता है कि वस्तु वास्तव में उस प्रकार कार्य करती है या नहीं, या कथित गुणों को प्रदर्शित करती है या नहीं। यदि हमारे अनुभव में यह सिद्ध होता है कि वह उस प्रकार कार्य करती है, या उन गुणों को प्रदर्शित करती है, जिनका हमारे चिंतन ने हमें अनुमान लगाने के लिए प्रेरित किया था, तो वस्तु के बारे में हमारी धारणा सही और विस्तृत दोनों हो जाती है, अर्थात्, वस्तु पहले से अनुमानित से अधिक और भिन्न दोनों सिद्ध होती है। यदि अनुभव दर्शाता है कि वह वह नहीं है जिसका हमने अनुमान लगाया था, उस प्रकार कार्य नहीं करती या उन गुणों को प्रदर्शित नहीं करती जिनकी हमारे चिंतन ने हमें अपेक्षा करने के लिए प्रेरित किया था, तो चूँकि हमारे द्वारा निकाले गए निष्कर्ष गलत हैं, इसलिए हमारे चिंतन गलत दिशा में थे, और वस्तु के बारे में एक गलत धारणा या अपूर्ण विचार से शुरू हुए होंगे।

पौराणिक कथाओं के निष्कर्षों और नैतिकता के संरक्षक देवताओं की अवधारणा के बीच इस प्रकार का टकराव, एक ऐसे समुदाय में, जो अभी भी बहुदेववादी है, संदेह पैदा करता है, पहला यह कि पौराणिक कथाओं में निहित निष्कर्ष गलत दिशा में हैं, और दूसरा यह कि वे ईश्वरत्व की किसी गलत धारणा या अपूर्ण धारणा से शुरू हुए होंगे। इसके परिणामों से यह पता चलता है कि त्रुटि ही त्रुटि है—

[45]

अनैतिकता, जिसे वह उन्हीं देवताओं पर आरोपित करता है जिनका कार्य नैतिकता की रक्षा करना है। पौराणिक कथाएँ चिंतन की वह प्रक्रिया है जो ऐसे निष्कर्षों की ओर ले जाती है जिन्हें अंततः मिथ्या मानकर खारिज कर दिया जाता है, जो किसी भी व्यक्ति के लिए स्पष्ट रूप से मिथ्या होते हैं जो उनकी तुलना अपनी आत्मा में विद्यमान ईश्वरत्व की धारणा से करता है। पौराणिक कथाओं ने इस धारणा के परिणामों की व्याख्या की कि हमें बाह्य जगत में ही उस दिव्य व्यक्तित्व की खोज करनी चाहिए जिसकी उपस्थिति का सामान्य चेतना में, समुदाय को, यद्यपि अस्पष्ट रूप से, सदैव आभास रहा है। मिथकों की सत्यता के बारे में संदेह सर्वप्रथम उन मिथकों और न्याय एवं नैतिकता के बीच असंगति के कारण उत्पन्न हुए, जो आरंभ से ही दिव्य व्यक्तित्व का सार रहे थे। ये

संदेह व्यक्तिगत विचारकों के मन और हृदय में उत्पन्न हुए; और, यदि वे व्यक्ति ही समुदाय के एकमात्र सदस्य होते जो न्याय और नैतिकता को दिव्य व्यक्तित्व के आवश्यक गुण मानते थे, तो ऐसे विचारकों के लिए यह आवश्यक होता कि वे पहले समुदाय को उस दृष्टिकोण में परिवर्तित करें। अब, पौराणिक कथाओं के प्रचलन का एक परिणाम यह होता है कि जिस समुदाय के बीच यह फलता-फूलता है, वह इस तथ्य के प्रति, यदि संदेह नहीं तो कभी-कभी विस्मृत हो जाता है कि समुदाय के देवता नैतिक प्राणी हैं और नैतिकता के संरक्षक हैं। इस तथ्य को फिलहाल नज़रअंदाज़ कर दिया जाना चाहिए।

[46]

जब भी कुछ मिथकों का उल्लेख किया जाता था। और, जितनी बार किसी तथ्य को ध्यान से हटा दिया जाता है, चेतना की सतह पर उसके पुनः प्रकट होने की संभावना उतनी ही कम होती है। इस प्रकार, सामान्य चेतना के क्षेत्र में पौराणिक कथाओं की भूमिका जितनी बड़ी होती है, उतनी ही अधिक उनकी प्रवृत्ति उन नैतिक गुणों को ध्यान से दूर करने की होती है जो दिव्य व्यक्तित्व के सार थे। लेकिन, पौराणिक कथाओं की भूमिका चाहे कितनी भी बड़ी हो, और देवताओं के नैतिक गुणों को मिटाने की उनकी प्रवृत्ति चाहे कितनी भी बड़ी हो, वे शायद ही कभी, यदि वास्तव में कभी, उन्हें सामान्य चेतना के क्षेत्र से पूरी तरह से मिटा पाती हैं। परिणामस्वरूप, व्यक्तिगत विचारक, जो नैतिकता, जो एक दिव्य व्यक्तित्व के लिए आवश्यक है, और कुछ मिथकों में देवताओं को दी गई अनैतिकता के बीच के विरोधाभास और विरोध को गहराई से समझते हैं, उन्हें ऐसे समुदाय से नहीं जूझना पड़ता जो इस बात से इनकार करता है कि देवताओं में कोई नैतिकता है, बल्कि ऐसे समुदाय से जूझना पड़ता है जो देवताओं की नैतिकता को स्वीकार करने के लिए तैयार है, जब भी उसका ध्यान इस ओर आकर्षित किया जाता है। इस प्रकार, यद्यपि यह हो सकता है कि इस या उस व्यक्ति में नैतिक गुणों के बीच असंगति, जो देवताओं से संबंधित हैं, और अनैतिक कार्य जो पौराणिक कथाओं में देवताओं के लिए बताए गए हैं, पहले स्वयं को प्रकट करती है, जिससे वह परेशान और परेशान होता है, फिर भी जो उसके मामले में हुआ है वह कुछ के मामले में होता है, और अन्य सभी सदस्यों के मामले में हो सकता है।

[47]

समुदाय की। तब असंगति केवल व्यक्ति के लिए ही नहीं, बल्कि सामान्य चेतना के लिए भी अस्तित्व में आती है।

पौराणिक कथाओं की अनैतिकता ने ही सबसे पहले बहुदेववाद में विश्वासियों का ध्यान उस अच्छाई, जिसे ईश्वरीय प्रकृति का सार माना जाता था, और उस नीचता, जिसे कुछ मिथकों में उन पर आरोपित किया गया था, के बीच के अंतर की ओर आकर्षित किया; लेकिन आधुनिक मन को पौराणिक कथाओं की यही अतार्किकता और बेतुकापन ही उनकी सबसे समान विशेषता प्रतीत होती है। जब तक अध्ययन की जाने वाली एकमात्र पौराणिक कथा इंडो-यूरोपीय लोगों की पौराणिक कथाएँ थीं, तब तक बिना किसी प्रश्न के यह मान लिया गया था कि मिथक वास्तव में अतार्किक और बेतुके नहीं हो सकते, या मूल रूप से रहे नहीं थे: अपनी प्रतीत होने वाली बेतुकी और बाह्य रूप से अतार्किक उपस्थिति के पीछे, वे अवश्य ही कुछ सत्य छिपाते होंगे। मूलतः, उनका कोई गूढ़ अर्थ अवश्य रहा होगा। उन्होंने—वास्तव में, रूपकात्मक रूप से—कुछ गहन सत्य अवश्य व्यक्त किए होंगे, जो प्राचीन ऋषियों को ज्ञात या प्रकट थे, जिन्हें पौराणिक कथाओं में पुनः खोजना आधुनिक विद्यार्थियों का कार्य था। और तदनुसार गहन सत्य—वैज्ञानिक, ब्रहमांडीय, खगोलीय, भौगोलिक, दार्शनिक या धार्मिक—खोजे गए। ऐसा कोई ज्ञान नहीं था जो मानव जाति के प्रारंभिक पूर्वजों के पास न रहा हो, और जिसे उनके वंशजों ने भुला न दिया हो।

लेकिन, जब इसकी खोज हुई और इसे स्वीकार किया गया,

[48]

यह मानते हुए कि भारोपीय लोगों के पूर्वज कभी असभ्य थे, और दुनिया भर के असभ्य लोगों के पास मिथक थे, यह कहना असंभव हो गया कि ऐसे असभ्य लोगों के पास अपनी पौराणिक कथाओं में वैज्ञानिक या धार्मिक सत्य का खजाना था। मिथकों का कोई गूढ़ अर्थ नहीं होता। स्पष्टतः हमें उन्हें वैसा ही मानना होगा जैसा हम उन्हें आज के असभ्य लोगों के बीच पाते हैं, अर्थात् बेतुकी और तर्कहीन कहानियाँ, जिनके पीछे कोई गुप्त अर्थ नहीं है। फिर भी, इस विषय पर इसे अंतिम शब्द के रूप में स्वीकार करना कठिन, बल्कि असंभव है। हम इन कहानियों को अस्वीकार करते हैं, क्योंकि वे स्पष्ट रूप से बेतुकी और तर्कहीन हैं। लेकिन असभ्य उन्हें अस्वीकार नहीं करता: वह उन्हें स्वीकार करता है। और यदि वह, हमारी तरह, उन्हें तर्कहीन और बेतुका पाता, तो वह उन्हें स्वीकार और विश्वास नहीं कर सकता था। संक्षेप में, अतार्किकता के साथ भी यही बात है, जैसा कि पौराणिक कथाओं की अनैतिकता के साथ है: मिथक सामान्य चेतना की कृति और उत्पाद हैं। इस प्रकार, मिथकों को उस सामान्य चेतना द्वारा तर्कहीन नहीं माना जा सकता जिसमें वे उत्पन्न हुए थे, और जिसके द्वारा उन्हें स्वीकार किया गया और प्रसारित किया गया था, जितना कि उन्हें अनैतिक माना गया था।

जाहिर है, पौराणिक कथाओं को जन्म देने वाली सामान्य चेतना, जब वह उन्हें जन्म देती है और स्वीकार करती है, तो उन्हें बेतुका नहीं कह सकती। इसके विपरीत, उसकी दृष्टि में और उसकी समझ के स्तर के अनुसार, वे तर्कसंगत होते हैं, चाहे वे कितने भी बेतुके क्यों न हों।

[49]

ज्ञान का विकास अंततः उन्हें सिद्ध कर सकता है। अतः, मिथक, अपने मूल में, तर्कसंगत और बोधगम्य के रूप में कहे और सुने जाते हैं, वर्णित और स्वीकार किए जाते हैं। वर्णित रूप में, वे आख्यान हैं: क्या हम कह सकते हैं कि वे कुछ और हैं? या क्या वे केवल कहने के आनंद के लिए कही गई कहानियाँ हैं? इस प्रकार की कहानियाँ, शुद्ध कल्पना, जहाँ कहीं भी मनुष्य है, वहाँ पाई जाती हैं। लेकिन, हम पहले ही कुछ ऐसे बिंदु देख चुके हैं जिनमें मिथक इस प्रकार की कहानियों से भिन्न होते हैं: कल्पना में कलाकार अपने नायक का निर्माण करता है, लेकिन मिथकों में मनुष्य से श्रेष्ठ प्राणी, जिसके बारे में कहानी कही जाती है, कथावाचक की रचना नहीं है; वह एक ऐसा प्राणी है जिसके अस्तित्व के बारे में समुदाय को ज्ञात है। एक और अंतर यह है कि मिथक उस देवता का होता है जिसके बारे में उसे कहा जाता है और उसे किसी अन्य देवता के बारे में ठीक से नहीं कहा जा सकता। ये दो पहलू हैं जिनमें कल्पना सीमित है, दो बिंदु जिन पर, मिथकों के मामले में, रचनात्मक कल्पना, यूँ कहें, स्थिर होती है। क्या मिथकों के मामले में यह किसी और प्रतिबंध के अधीन है? यह मान लिया जाए कि एक बार किसी साहसिक कार्य को एक देवता के लिए निर्धारित कर देने के बाद, उसे दूसरे देवता के लिए निर्धारित नहीं किया जा सकता, तो क्या पौराणिक कथाओं के मामले में, शुद्ध कल्पना की तरह, रचनात्मक कल्पना उन घटनाओं और साहसिक कार्यों का आविष्कार करने के लिए स्वतंत्र है, जो अंततः - पौराणिक कथाओं के शब्दकोश में - उस देवता की जीवनी का निर्माण करते हैं? ऐसा प्रतीत होता है कि यह स्वतंत्रता अत्यंत सीमित प्रकृति की है।

[50]

यह एक अनुमान है, जो विश्व जितना ही व्यापक है—विश्व के सभी भागों की पौराणिक कथाओं पर आधारित—कि मिथक कारणात्मक होते हैं, उनका उद्देश्य वस्तुओं का कारण बताना, अग्नि, कृषि, सभ्यता, संसार—वास्तव में किसी भी ऐसी चीज़ की उत्पत्ति की व्याख्या करना है, जिसकी व्याख्या असभ्य व्यक्ति को आवश्यक प्रतीत होती है। जीववादी काल में, मनुष्य को हर जगह देवता मिले क्योंकि वह हर जगह देवताओं की तलाश में था। बाह्य जगत में, जिस भी वस्तु ने उसका ध्यान खींचा, उससे उसने, या पूछ सकता था, प्रश्न पूछा, 'क्या तुम वहाँ हो?' हर घटना जिसने पूरे समुदाय का ध्यान खींचा, और सामान्य चेतना से यह प्रतिज्ञान करवाया, 'तुम वहाँ हो,' उस प्रतिज्ञान द्वारा, उसे ईश्वर का कार्य मान लिया गया। लेकिन न तो इस स्तर पर, और न ही उसके बाद लंबे समय

तक, कोई मिथक होता है। जिस प्राणी की उपस्थिति की इस प्रकार पुष्टि की जाती है, उसका पहले कोई नाम नहीं होता: उसका व्यक्तित्व अत्यंत मंद होता है, उसकी वैयक्तिकता अत्यंत अस्पष्ट होती है। पौराणिक कथाएँ तब तक शुरू नहीं होतीं जब तक यह प्रश्न न पूछा जाए, 'ईश्वर ने यह कार्य क्यों किया?' एक मिथक, या मूलतः, उस कारण से बना होता है जिसे सामान्य चेतना ने इस कारण के रूप में पाया और अपनाया कि ईश्वर ने जो किया वह क्यों किया। इसी अर्थ में मिथक कारणात्मक होते हैं। उन्हें उत्पन्न करने वाली कल्पना, एक अर्थ में, 'वैज्ञानिक कल्पना' है। यह सीमाओं के भीतर काम करती है। जिन आंकड़ों पर यह काम करती है वे हैं कि यह कार्य इस ईश्वर द्वारा किया गया था, या किया जा रहा है; और समस्या

[51]

पौराणिक कल्पना यह है कि, 'उसने ऐसा क्यों किया, या करता है?' इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए जिन कहानियों का आविष्कार किया गया, वे पौराणिक कथाएँ थीं; और यह तथ्य कि मिथकों का आविष्कार इस प्रश्न का उत्तर देने के उद्देश्य से किया गया था, उन्हें उन कहानियों से अलग करता है जिनके आविष्कार में कल्पना प्रतिबंध के अधीन नहीं थी, इस भगवान और उसके इस कार्य से बंधी नहीं थी, और इस प्रश्न का उत्तर कल्पना करने के एकमात्र कार्य तक सीमित नहीं थी, 'उसने ऐसा क्यों किया?' सभी मिथक कथाएँ हैं, लेकिन सभी कथाएँ मिथक नहीं हैं। कुछ कथाओं के नायक केवल पुरुष हैं। वे कल्पनाशील हैं लेकिन पौराणिक नहीं हैं। कुछ कथाएँ देवताओं और उनके कार्यों के बारे में हैं। उनका उद्देश्य यह बताना है कि देवताओं ने जो किया वह क्यों किया, और वे कथाएँ पौराणिक हैं।

शायद ऐसा लग सकता है कि आदिमानव की कल्पना शुरू से ही इस प्रश्न के उत्तर में मिथकों का आविष्कार करने में लगी रही होगी, 'ईश्वर ने ऐसा क्यों किया?' लेकिन, वास्तव में, मनुष्य पौराणिक कथाओं के बिना भी लंबे समय तक जीवित रह सकता है। इसका एक उल्लेखनीय उदाहरण इटली के डि इंडिजिटेस हैं। मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक, उसके द्वारा किए गए या सहे गए हर कार्य पर, इन देवी-देवताओं में से एक का शासन था। डेउस वैजिटेनस ने नवजात शिशु के पहली बार रोने पर उसके होंठ खोले; डेआ ओसिपागो ने बढ़ते हुए शिशु की हड्डियों को मजबूत और सुदृढ़ बनाया; डेउस

[52]

लोकुटियस ने इसे स्पष्ट रूप से बोलवाया; देवी विरिप्लाका ने झगड़ते पति-पत्नी के बीच सामंजस्य स्थापित किया; देआ ओरबोना ने मृत्यु के समय पुरुष की आँखें बंद कर दीं। इन दि इंडिजिटियों के मंदिर थे और वे बलि चढ़ाते थे। उन्हें देवी-देवताओं के रूप में प्रतिष्ठित किया गया था। उनके नाम वास्तविक नाम थे, हालाँकि वे केवल उस कार्य का वर्णन करने वाले शब्द हैं जो देवता करते थे या जिसकी अध्यक्षता करते थे। हालाँकि ये दि इंडिजिटियाँ देवता हैं, व्यक्तिगत देवता हैं, जिनकी प्रार्थना और बलि चढ़ाई जाती है, फिर भी उनसे कोई पौराणिक कथा नहीं जुड़ी है; उनके बारे में कोई मिथक नहीं बताया जाता है।

रोम के डिडिजिट्स द्वारा इस प्रकार हमारे ध्यान में लाया गया तथ्य हमें यह चेतावनी देने के लिए पर्याप्त होना चाहिए कि पौराणिक कथाएँ अनिवार्य रूप से देवताओं की पूजा के तत्काल परिणाम के रूप में उत्पन्न नहीं होतीं। यह इस बात का भी संकेत दे सकता है कि पौराणिक कथाएँ पूजा का प्राथमिक परिणाम न होकर गौण परिणाम क्यों होनी चाहिए। रोमन व्यावहारिक थे, और असभ्य भी: यदि वे यह प्रश्न पूछते थे, 'इस देवता ने ऐसा क्यों किया?' तो वे यह प्रश्न अटकलबाज़ी की भावना से नहीं, बल्कि एक व्यावहारिक, व्यावहारिक कारण से पूछते थे: क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि यह कार्य दोबारा हो। और इसी उद्देश्य से वे देवता या देवी को बलि चढ़ाते थे। जिन चीज़ों के संबंध में असभ्य समुदाय सबसे पहले यह प्रश्न पूछता है, 'देवता ने ऐसा क्यों किया?' वे समुदाय के लिए विनाशकारी चीज़ें हैं—प्लेग या अकाल। इस प्रश्न का उत्तर है

[53]

प्रश्न जिन शब्दों में कहा गया है, उनसे वास्तव में यही निहित है: समुदाय, या समुदाय के किसी सदस्य ने उल्लंघन किया है; उसे खोजा जाना चाहिए और दंडित किया जाना चाहिए। जब तक और जहाँ तक प्रश्न इस प्रकार रखा जाता है और इसका उत्तर दिया जाता है, तब तक पौराणिक कथाओं के विकास की कोई गुंजाइश नहीं है। और यह इटली में डिडिजिट्स या अन्य देशों में संबंधित देवताओं के इर्द-गिर्द नहीं पनपी।

लेकिन 'ईश्वर ने ऐसा क्यों किया?' इस प्रश्न का, विचार करने पर, एक अन्य प्रकार का उत्तर मिल सकता है। और रोमनों की तुलना में अधिक चिंतनशील मन से, इसका उत्तर पौराणिक कथाओं, कारण-संबंधी मिथकों के रूप में प्राप्त हुआ। पौराणिक कथाएँ चिंतन का कार्य हैं: जब समुदाय के पास अपने देवताओं और उनके कार्यों पर चिंतन करने का समय और इच्छा होती है, तभी सामान्य चेतना में पौराणिक कथाएँ उत्पन्न होती हैं। आदिमानव के पास अपने साथ घटित होने वाली हर घटना के लिए एक ही व्याख्या होती है, यदि वह घटना ऐसी हो जिसके लिए उसे स्पष्टीकरण की आवश्यकता प्रतीत हो, और वह व्याख्या यह हो कि यह घटना किसी ईश्वर का कार्य है। यदि ध्यान आकर्षित करने वाली कोई विपत्ति है, जिसके लिए उपाय की आवश्यकता है, तो समुदाय प्रार्थना और बलिदान के साथ ईश्वर के पास जाता है; इसका उद्देश्य व्यावहारिक है, अटकलबाज़ी नहीं; और कोई मिथक उत्पन्न नहीं होता। लेकिन यदि ध्यान आकर्षित करने वाली वह घटना समुदाय की ओर से कार्रवाई की मांग करने वाली नहीं है, बल्कि वह है जो जिज्ञासा जगाती है और चिंतन को प्रेरित करती है, तो चिंतनशील उत्तर

[54]

यह प्रश्न कि जिस भी देवता ने यह कार्य किया, उसने यह कार्य क्यों किया, एक मिथक है।

इस प्रकार, वह मनोदशा या मनःस्थिति, जिसमें पौराणिक कथाएँ उत्पन्न होती हैं, उस मनोदशा या मनःस्थिति से स्पष्ट रूप से भिन्न होती है जिसमें समुदाय अपने नाराज देवताओं को प्रसन्न करने के लिए उनके पास जाता है। बाद वाले मामले में उद्देश्य प्रायश्चित और मेल-मिलाप है। पहले मामले में मनःस्थिति अन्वेषण की है। भय और आशा का मिश्रित भाव, जो एक मनःस्थिति का निर्माण करता है, अन्वेषण की उस भावना से स्पष्ट रूप से भिन्न है जो दूसरी मनःस्थिति की विशेषता और गठन करती है। एक मनोदशा निस्संदेह धार्मिक है; दूसरी, नहीं। एक मनोदशा में, समुदाय स्वयं को अपने देवताओं की उपस्थिति में अनुभव करता है; दूसरी में वह उनके बारे में चिंतन और जिज्ञासा कर रहा होता है। एक स्थिति में समुदाय अपने देवता के समक्ष उपस्थित होता है; दूसरी में वह चिंतनशील रूप से ईश्वर की अपनी अवधारणा का उपयोग उन चीजों की व्याख्या करने के उद्देश्य से कर रहा होता है जिनकी व्याख्या की आवश्यकता होती है। लेकिन ईश्वर की अवधारणा, जब इस प्रकार, मिथकों के माध्यम से चीजों की व्याख्या करने के उद्देश्य से, उपयोग की जाती है, तो उसके उपयोग के अनुसार उसमें परिवर्तन आ जाता है। ऐसा नहीं है कि जो कुछ भी घटित होता है, उसे, यदि उसे स्पष्टीकरण की आवश्यकता हो, किसी ईश्वर के कार्य के रूप में समझाया जाता है; बल्कि आदि मानव ने अपने पौराणिक क्षणों में, जिन उद्देश्यों को देवताओं के लिए जिम्मेदार ठहराया था - वे उद्देश्य जो केवल अविकसित मनुष्य ही उन्हें दे सकता था - ईश्वर की उस अवधारणा का हिस्सा बन गए जिस पर पौराणिक कथाओं ने काम किया।

[55]

और मिथकों का इससे क्या लेना-देना था। इस प्रकार बहुदेववादी मिथकों में धीरे-धीरे विकसित हुआ ईश्वर का विचार, जो बर्बर, बर्बर और अर्ध-बर्बर पूर्वजों के संचित प्रतिबिंब हैं, अंततः प्रतिक्रिया को भड़काता है। लेकिन क्यों? केवल इसलिए नहीं कि मिथक अनैतिक और तर्कहीन हैं। बल्कि इसलिए कि अनैतिक और तर्कहीन कार्यों को

ईश्वरीय व्यक्तित्व पर आरोपित करना अनिवार्य रूप से अधर्म है। तो स्पष्ट रूप से, वे विचारक और लेखक जो इस अधर्म से बहुत प्रभावित थे, जो इस बात से पूरी तरह वाकिफ थे कि ईश्वरीय व्यक्तित्व अनैतिकता और तर्कहीनता के साथ असंगत है, उनके पास ईश्वर के बारे में पौराणिक विचारों से भिन्न कोई अन्य विचार था। हम और आगे जा सकते हैं: हम सुरक्षित रूप से कह सकते हैं कि सामान्य व्यक्ति, उदाहरण के लिए, सुकरात की तरह, विचलित नहीं होता, यदि उसने भी अपने भीतर ईश्वर के बारे में पौराणिक विचारों से भिन्न कोई अन्य विचार न पाया होता। और हम कुछ हद तक समझ सकते हैं कि यह कैसा होना चाहिए, यदि हम यह ध्यान में रखें कि यद्यपि पौराणिक कथाएँ बढ़ती और समृद्ध होती हैं, फिर भी देवताओं की पूजा जारी रहती है। कहने का तात्पर्य यह है कि समुदाय, इन सबके बावजूद, अपने देवताओं के पास, उसी उद्देश्य से, और उसी मिश्रित भय और आशा की भावना के साथ जाता रहता है, जिसके साथ वह हमेशा अपने देवताओं के समक्ष आता था। यह भावना की मनोदशा, जो मूलतः धार्मिक है, और चिंतनशील चिंतन की पौराणिक शैली, जो धार्मिक नहीं है, के बीच असंगति ही है जो पौराणिक कथाओं के विरुद्ध धार्मिक प्रतिक्रिया को जन्म देती है। हालाँकि, ऐसा तब तक नहीं होता जब तक

[56]

धर्म और पौराणिक कथाओं के बीच का अंतर इतना बढ़ गया है कि असंगति प्रकट हो जाती है। और यह असंगति सर्वप्रथम किसी व्यक्ति के अनुभव में, सामान्य चेतना में नहीं, खोजी जाती है। यही वह खोज है जो खोजकर्ता को यह बोध कराती है कि यह केवल तभी नहीं होता जब वह अपने देवताओं के मंदिरों में उनकी उपस्थिति के समक्ष आता है, बल्कि जब भी उसका हृदय भय, आशा और कृतज्ञता के मिश्रित ज्वार पर उठता है, तो वह अपने ईश्वर की उपस्थिति में आ जाता है। अपने आस-पास की दुनिया की सभी बाह्य वस्तुओं में दिव्य व्यक्तित्व की खोज करने के बाद, अंततः वह जान जाता है कि आरंभ से ही सत्य क्या था—कि उसके हृदय में ही वह अपने ईश्वर तक पहुँच पाता है।

देवताओं में विश्वास अनिवार्य रूप से किसी पौराणिक कथा का परिणाम नहीं होता। इटली के डिडिजिट्स का उदाहरण यह दर्शाता है कि यह कोई अपरिहार्य परिणाम नहीं है। लेकिन पौराणिक कथाएँ, जहाँ कहीं भी पाई जाती हैं, अपने आप में इस बात का पर्याप्त प्रमाण हैं कि देवताओं में विश्वास किया जाता है या किया गया है; यह उन देवताओं के बारे में चिंतन और अन्वेषण का परिणाम है, जिनके पास समुदाय आशा और भय की मिश्रित भावनाओं के साथ जाता है, और बलिदान और प्रार्थना के साथ उनकी पूजा करता है। अब, एक पौराणिक कथा, या शायद हमें यह कहना चाहिए कि पौराणिक कथाओं के अंश, उन देवताओं में विश्वास के लंबे समय बाद भी, जिनके बारे में मूल रूप से मिथक बताए गए थे, जीवित बचे रह सकते हैं, या पूरी तरह से विलुप्त भी हो सकते हैं। ऐसे निशान

[57]

अधिकांश ईसाई लोगों की लोककथाओं में देवताओं के अपदस्थ होने के उदाहरण मिलते हैं। वास्तव में, ईसाई धर्म में न केवल बीते हुए पौराणिक कथाओं के अवशेष मिलते हैं; बल्कि वे रीति-रिवाज और रीति-रिवाज भी मिलते हैं, जो कभी अब विस्मृत देवताओं की पूजा का हिस्सा थे; या हो सकता है कि केवल देवताओं के नाम ही अज्ञात रूप से बचे हों, जैसे सप्ताह के दिनों के नाम। यूरोप में ऐसे अवशेषों का अस्तित्व ज्ञात है; उनके इतिहास का पता लगाया जा चुका है; उनकी उत्पत्ति निस्संदेह है। इसलिए, जब यूरोप के अलावा दुनिया के अन्य हिस्सों में, उन लोगों के बीच जो किसी भी यूरोपीय लोगों जितने पुराने हैं, हालाँकि उनका कोई लिखित इतिहास नहीं है, हमें पौराणिक कथाओं, अनुष्ठानों, या देवताओं के केवल नाम के अंश मिलते हैं, बिना उन मिथकों और अनुष्ठानों के जो अन्यत्र देवताओं से जुड़े हैं, तो यह अनुमान लगाया जाता है कि यहाँ भी हमें पूजा और पौराणिक कथाओं की एक ऐसी प्रणाली के अवशेषों से निपटना होगा, जो कभी अस्तित्व में थी, और अब नष्ट हो गई है, और केवल ये अवशेष ही बचे हैं। इस प्रकार, ऑस्ट्रेलियाई अश्वेत लोगों के बीच हमें ऐसे देवताओं के बारे में मिथक मिलते हैं जिनकी अब

कोई पूजा नहीं होती। लेकिन वे कभी भी देवता नहीं बन सकते थे जब तक कि किसी समय उनकी पूजा न की गई हो; वे उचित, व्यक्तिगत नाम प्राप्त नहीं कर सकते थे, जिनके द्वारा उन्हें इन जीवित मिथकों में नामित किया गया है, यदि उनकी पूजा इतने लंबे समय तक नहीं की गई होती कि वे शब्द जो उन्हें नामित करते हैं, उचित नाम बन गए, अर्थात ऐसे नाम जो उनके द्वारा नामित व्यक्ति के अलावा किसी अन्य व्यक्ति को नहीं दर्शाते हैं।

[58]

पृथ्वी के अन्य पिछड़े लोगों में हम देवताओं के नाम जीवित पाते हैं, न केवल उनकी पूजा नहीं होती, बल्कि उनसे कोई मिथक भी नहीं जुड़ा होता; और निष्कर्ष स्पष्ट रूप से यह है कि चूँकि उन्हें आज भी देवता के रूप में याद किया जाता है, वे निश्चित रूप से कभी पूजा की वस्तुएँ थे, और संभवतः कभी पौराणिक कथाओं के विषय भी रहे होंगे। और यदि किसी पुरानी धार्मिक व्यवस्था में, एक स्थान पर केवल पौराणिक कथाओं के कुछ अंश ही बचे हैं, और दूसरी ओर देवताओं के केवल नाम, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि कहीं और हमें केवल पूजा का कुछ अंश, कोई अनुष्ठान ही मिलता है, जिसका पालन आज भी अपने आप में होता है, भले ही जिन देवताओं की पूजा से इसकी उत्पत्ति हुई थी, उनकी सारी स्मृति सामान्य चेतना से लुप्त हो गई हो—यह लुप्त होना और भी आसान होता यदि पूजे जाने वाले देवताओं का कोई नाम न होता, या ऐसे नाम होते जो मूलनिवासियों के नामों जितने कम व्यक्तिगत होते। इस प्रकार का अनुष्ठान, जो किसी देवता के नाम से जुड़ा नहीं है, ऑस्ट्रेलियाई जनजातियों में पाया जाता है, और संभवतः एक खंडित व्यवस्था का मलबा है।

यहाँ भी, उसी ग़लती का अवसर फिर से मौजूद है जिसमें पौराणिक कथाओं के विद्यार्थी पहले भी पड़ चुके हैं, जब उन्होंने पौराणिक कथाओं में ऐसे गहन सत्य पाए थे, या सोचा था कि उन्हें मिल गए हैं, जो प्राचीन ऋषियों को ज्ञात या प्रकट थे। अंतिम अनुच्छेद में उल्लिखित अवशेषों की व्याख्या किसी पूर्ववर्ती एकेश्वरवाद या आदिम रहस्योद्घाटन के अवशेषों के रूप में की जा सकती है। लेकिन

[59]

अगर वे बचे हुए हैं, तो वे उस काल के बचे हुए हैं जब आज के अफ़्रीकी या ऑस्ट्रेलियाई अश्वेत लोगों के पूर्वज सामाजिक विकास के एक प्रारंभिक चरण में थे—भाषाई विकास और भाषा के साथ विकसित होने वाले विचार के भी एक प्रारंभिक चरण में—उनकी वर्तमान संतानों की तुलना में। हालाँकि, विकास के उस प्रारंभिक चरण में भी, मनुष्य ईश्वर की खोज करता रहा। अगर उसने भूलवश ईश्वर को इस या उस बाह्य वस्तु में खोजने की सोची, तो उसकी खोज के मूल में जो विश्वास था, वह गलत नहीं था—यह विश्वास कि ईश्वर हममें से किसी से भी दूर नहीं है।

[60]

टीओसी

उपासना में ईश्वर का विचार

ईश्वर के विचार की खोज में हमें पौराणिक कथाएँ बहुत कम उपयोगी लगीं; और इसका कारण, जैसा कि हमने सुझाया है, यह है कि मिथक-निर्माण एक चिंतनशील प्रक्रिया है, एक ऐसी प्रक्रिया जिसमें मन विचार पर चिंतन करता है, और इसलिए एक ऐसी प्रक्रिया जिसे तब तक स्थापित नहीं किया जा सकता जब तक कि विचार पहले से मौजूद न हो, या यूँ कहें कि प्रस्तुत न किया गया हो। जब इसे प्रस्तुत किया जाता है, तो यह चिंतन का विषय बन सकता है, लेकिन तब तक नहीं। यदि हम यह जानना चाहते हैं कि यह कहाँ और कब इस प्रकार तुरंत प्रस्तुत किया

जाता है, तो आइए हम इसे उपासना में खोजें। यदि यह मुख्य रूप से उपासना के क्षण में दिया जाता है, तो इसे चिंतन के विषय के रूप में द्वितीयक स्तर पर पुन: प्रस्तुत किया जा सकता है। अब, उपासना में—बशर्ते कि इसे एक वास्तविकता के रूप में अनुभव किया जाए, न कि एक परंपरा के रूप में—समाज का उद्देश्य अपने ईश्वर के पास जाना है: आइए हम प्रभु के समक्ष आएँ और स्तुति के साथ उनके दरबार में प्रवेश करें, ये ऐसे शब्द हैं जो उस विचार और भावना का निष्पक्ष रूप से प्रतिनिधित्व करते हैं, जो

[61]

साधारण अवसरों पर, जो व्यक्ति उपासना करने जाता है, वह वास्तव में अनुभव करता है, चाहे वह बहुदेववादी हो या एकेश्वरवादी। मैंने 'उपासना के क्षण' की बात की है, लेकिन उपासना, निस्संदेह, एक आदत है: यदि यह आदत नहीं है, तो यह किसी भी प्रभावी अर्थ में, बिल्कुल भी नहीं रहती। और यह समुदाय की, सामान्य चेतना की एक आदत है, जो युगों-युगों से निरंतर बनी रहती है, भले ही यह धीरे-धीरे बदलती है; और जो निरंतर होने के कारण, रूढ़िवादी और दृढ़ है। एकेश्वरवादी बन जाने पर भी, यह एक ईश्वर को 'अन्य सभी देवताओं से ऊपर एक महान ईश्वर' के रूप में, उन शब्दों में बोलना जारी रख सकता है जो विश्वास के किसी पूर्व चरण के अवशेष हैं। ऐसे भाव उन बादलों के समान हैं जो उठ तो रहे हैं, फिर भी पहाड़ की चोटी के चारों ओर मंडराते रहते हैं: वे उस वाष्प का हिस्सा हैं जिसने पहले उस वास्तविकता को दृष्टि से ओझल कर दिया था जो वहाँ थी, और जिसे कभी भी हिलाया नहीं जा सकता।

उपासना में बोले गए शब्द, स्तुति और प्रार्थना के भजन शामिल हो सकते हैं; लेकिन इसमें किए गए कार्य, किए गए कार्य, अनुष्ठान भी शामिल हैं। ये वे कार्य हैं जिनसे हमें अब शुरुआत करनी है, ताकि हम उनसे ईश्वर के उस विचार के बारे में जो भी निष्कर्ष निकाल सकें जिसने उन्हें प्रेरित किया। अनुष्ठान के इन तथ्यों में अनंत विविधता है, ठीक वैसे ही जैसे बहुदेववाद के देवता संख्या और प्रकार में अनंत हैं। लेकिन अगर विविधता है, तो एकता भी है। बहुदेववाद के देवता एक-दूसरे से बहुत भिन्न होते हुए भी, वे

[62]

सबसे कम पूजित प्राणी—और समुदाय द्वारा पूजित प्राणी। यद्यपि अनुष्ठानों के विवरण में बहुत भिन्नता है, फिर भी वे सभी अनुष्ठान हैं: सभी पूजा हैं, और, सभी, समुदाय द्वारा अपने देवताओं के प्रति की जाने वाली पूजा हैं। और उनके उद्देश्य या जिस उद्देश्य से समुदाय उन्हें करता है, उसके बारे में कोई संदेह नहीं हो सकता: वह उद्देश्य, कम से कम, समुदाय को अपने प्रभु की उपस्थिति में लाना है। हम निःसंदेह कह सकते हैं कि जब तक कोई समुदाय पूजा नहीं करता और कोई प्राणी जिसकी पूजा की जाती है, तब तक कोई पूजा नहीं हो सकती। न ही दोनों के बीच विद्यमान संबंध के बारे में कोई संदेह हो सकता है। समुदाय झुकता है और पूजा करता है: यही मण्डली का दृष्टिकोण है। न ही इस बारे में कोई संदेह हो सकता है कि सामान्य चेतना में, देवता अपने उपासकों के साथ किस संबंध में हैं: वह उनसे विशेष संबंधों से बंधा है—वे उससे उस सहायता की अपेक्षा करते हैं जो उन्हें अतीत में प्राप्त हुई है। उन्हें उस पर विश्वास है—अन्यथा वे उसकी पूजा नहीं करते—यह विश्वास कि वह वही रहेगा जो वह अतीत में रहा है, संकट के समय में एक बहुत बड़ा सहायक। केवल यह तथ्य कि वे उसके सामने आना चाहते हैं, उनके भीतर मौजूद विश्वास की स्वीकारोक्ति है, यह विश्वास कि वे अपने ईश्वर की उपस्थिति में हैं और उन तक पहुँच सकते हैं। उनकी पूजा चाहे कितनी भी आदिम, यानी प्रारंभिक क्यों न हो; विकास के पैमाने पर उपासक चाहे कितने भी निम्न स्तर के क्यों न हों; ईश्वर के बारे में उनकी धारणा चाहे कितनी भी धुंधली और ईश्वर के प्रति उनका दृष्टिकोण चाहे कितना भी भ्रमित और विरोधाभासी क्यों न हो।

[63]

वे उसके बारे में चाहे जो भी चिंतन करें, उसी विश्वास के साथ वे उपासना करते हैं। उपासना से बहुत कुछ निहित है—मात्र इस तथ्य से कि उपासक उपासना के लिए एकत्रित होते हैं। यदि हमें कोई ऐसा सुराग खोजना है जो हमें संसार में प्रचलित या प्रचलित रहे असंख्य अनुष्ठानों के विवरणों में अनंत विविधता के बीच एकरूप मार्गदर्शन दे सके, तो हमें उसे उस उद्देश्य में खोजना होगा जिसके लिए उपासक एकत्रित होते हैं। किन्तु, यदि हम जल्दबाजी में की गई पूर्वधारणाओं के बजाय वस्तुनिष्ठ तथ्यों से निर्देशित होना चाहते हैं , तो हमें तथ्यों का अध्ययन करके शुरुआत करनी होगी: हमें यह पता लगाना होगा कि क्या विभिन्न अनुष्ठानों के विवरण केवल विविधता ही प्रस्तुत करते हैं, या क्या कोई ऐसा पहलू है जिससे वे समानता या एकरूपता प्रदर्शित करते हैं। एक बिंदु ऐसा है जहाँ वे एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं; और, इससे भी बढ़कर, वह बिंदु उन सभी की प्रमुख विशेषता है; वे सभी यज्ञ के इर्द-गिर्द केंद्रित हैं। बलिदान के माध्यम से, या बलिदान के माध्यम से, सभी मनुष्य अपने देवताओं तक पहुँचते हैं, यहाँ तक कि छोटा नागपुर के वनवासी भी, जो जंगल-ज्वर और मुर्गियाँ फैलाने वाली शक्तियों को शांत करने के उद्देश्य से पक्षियों की बलि देते हैं और बलि चढ़ाते हैं। बलिदान अनुष्ठान वह अवसर है जिस पर, और एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा, उपासक अपने देवता के साथ उस घनिष्ठ संबंध में आता है, जिसकी वह कभी इच्छा नहीं करता, यदि वह किसी भी कारण से इसकी इच्छा न रखता हो। जैसा कि इस विचार से संबंधित है

[64]

ईश्वर, यज्ञ अनुष्ठान का आध्यात्मिक अर्थ और व्यावहारिक महत्त्व यह है कि जो इसमें भाग लेता है, वह इसमें केवल तभी भाग ले सकता है जब वह यह स्वीकार करे कि ईश्वर उसका अपना कोई निजी विचार नहीं है, जो केवल उसकी धारणा में विद्यमान है, बल्कि वस्तुगत रूप से वास्तविक है। छोटा नागपुर का वनवासी उस प्राणी का कोई नाम नहीं रख सकता जिसके लिए वह नियत समय और नियत स्थान पर पक्षियों की बलि चढ़ाता है; लेकिन, जैसा कि हमने देखा है, देवताओं को धीरे-धीरे समय के साथ ही उचित, व्यक्तिगत नाम प्राप्त होते हैं। वह जिस प्राणी के लिए बलि चढ़ाता है, उसके बारे में अपने विचार का, जो सभ्य जिज्ञासु के लिए समझ में आता है, कोई विवरण देने में असमर्थ हो सकता है: उससे अधिक कुशल धर्मशास्त्री भी ईश्वर को परिभाषित करने में असफल रहे हैं। लेकिन जिस प्राणी के पास वह पहुँचना चाहता है, उसकी वास्तविकता के बारे में उसे कोई संदेह नहीं है। ऐसा नहीं है कि उस प्राणी की वास्तविकता, चाहे वह किसी भी व्यक्ति द्वारा पूजित हो, एक धारणा है जिसे बनाया जाना चाहिए, या एक परिकल्पना है जिसे पूजा का तार्किक औचित्य प्रदान करने के लिए प्रतिपादित किया जाना चाहिए। साधारण तथ्य यह है कि धार्मिक चेतना ईश्वर की वास्तविक चेतना है, ठीक उसी तरह जैसे सामान्य चेतना वस्तुओं की वास्तविक चेतना है। किसी भी एक की वास्तविकता को ऐसी चीज़ के रूप में प्रस्तुत करना जो अनुभव से परे है, बल्कि अनुमानित है, यह कहना है कि हमें वास्तविकता का कोई अनुभव नहीं है, और इसलिए अनुमान लगाने के लिए हमारे पास कोई वास्तविक आधार नहीं है। हम यह मानना बेहतर समझते हैं कि हमें ईश्वर की तत्काल चेतना है।

[65]

कुछ हद तक वास्तविक, और अनुमान द्वारा हम काफी हद तक वास्तविकता की तत्काल चेतना में लाए जा सकते हैं।

उस परमेश्वर की वास्तविकता के बारे में, जिसके निकट छोटा नागपुर का वनवासी भी पहुँचने का प्रयास करता है, केवल उन्हीं आधारों पर संदेह करना संभव है जो किसी भी बिंदु पर सामान्य चेतना की अंतिम वैधता को नकारने का प्रयास करते हैं। उस वास्तविकता के बारे में मनुष्यों द्वारा निकाले गए अनुमानों और उन अनुमानों से उत्पन्न विचारों के साथ, मामला अलग है। वे विचार वास्तव में क्या हैं, या क्या रहे हैं, इसका अनुमान हमें कमोबेश धर्म विज्ञान द्वारा प्रस्तुत तथ्यों से लगाना है। ऐसे ही तथ्यों का एक समूह उपासना शब्द के अंतर्गत आता है; और उस समूह का प्रमुख तथ्य सर्वत्र यज्ञ का अनुष्ठान है। इसके माध्यम से हम यथोचित रूप से उन कुछ विचारों तक

पहुँचने की आशा कर सकते हैं जो उपासकों के मन में उन देवताओं के बारे में थे जिनकी वे पूजा करते थे। दुर्भाग्य से, धर्म विज्ञान के विद्यार्थियों के बीच, यज्ञ के मूल में निहित विचार के बारे में काफी मतभेद हैं।

एक तथ्य जिससे हम शुरुआत कर सकते हैं, वह यह है कि बलिदान के माध्यम से ही समुदाय उस देवता के निकट पहुँचता है जिसके पास वह जाना चाहता है। बाह्य, भौतिक तथ्य, क्रियाओं का दृश्य समूह, यह है कि उपासकों का समूह अपनी आहुति के साथ उस स्थान की ओर बढ़ता है जहाँ देवता स्वयं प्रकट होते हैं और पाए जाते हैं। इससे जो निष्कर्ष निकलता है, वह यह है कि,

[66]

बाहरी कार्यों की इस श्रृंखला के बाद, भक्तों के दिलों और दिमागों में एक आंतरिक दृढ़ विश्वास होता है: वे उस स्थान पर नहीं जाएंगे, जब तक कि उन्हें यह महसूस न हो कि ऐसा करने से वे अपने भगवान के करीब पहुंच रहे हैं।

इस प्रकार भौतिक और आध्यात्मिक दोनों रूपों में निकट आते हुए, वे अपने साथ कुछ भौतिक वस्तुएँ ले जाते हैं। और ऐसा वे तब तक नहीं करेंगे, जब तक कि वे भौतिक वस्तु को किसी न किसी रूप में अपनी मानसिक प्रवृत्ति, या यूँ कहें कि अपनी धार्मिक प्रवृत्ति के रूप में व्यक्त न कर लें। इस प्रकार व्यक्त की गई प्रवृत्ति, ईश्वर के पास भौतिक और आध्यात्मिक दोनों रूपों में पहुँचने की इच्छा का एक भाग या उससे निहित होनी चाहिए। यह तथ्य कि वे अपने साथ कुछ भौतिक वस्तुएँ ले जाते हैं, हाव-भाव से व्यक्त होती है—जैसा कि खोजकर्ता उन मूल निवासियों के प्रति करते हैं जिनकी भाषा उन्हें नहीं आती—जो उन्हें प्रेरित करती है। और इस प्रकार, यह अनुमान लगाना सुरक्षित है कि इच्छा, किसी भी स्थिति में, उस व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित करने की होती है जिसके पास पहुँचा जा रहा है।

इस प्रकार मनुष्य अपने साथ कुछ ऐसा लेकर आता है जिससे वह उस देवता को प्रसन्न कर सके जिसके पास वह जाता है। हालाँकि यह उसके इरादे का एक हिस्सा है, लेकिन यह उसका पूरा इरादा नहीं है। उसकी इच्छा है कि देवता केवल भेंट से ही नहीं, बल्कि उससे भी प्रसन्न हों। वह जो लाता है—उसकी भेंट—उसी लक्ष्य की प्राप्ति का एक साधन मात्र है। वह क्यों चाहता है कि देवता उससे प्रसन्न हों, यह हमें आगे पता चलेगा। हालाँकि, अब तक हम देखते हैं कि यही इच्छा और यही उद्देश्य है।

[67]

इस तथ्य से अवगत कि वह अपने साथ कुछ भौतिक वस्तु लेकर आया है।

यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह भौतिक वस्तु, जिसके द्वारा समुदाय अपने देवता के निकट जाता है, आवश्यक रूप से केवल वही हो जिसे देवता प्रसन्न करने वाला मानते हों। केवल इतना आवश्यक है कि वह उस भावना को अभिव्यक्त करे या उसका प्रतीक बने जिसके द्वारा समुदाय निकट आता है। जब तक वह ऐसा करता है, तब तक उसका कार्य पूरा होता है। जिस पर ध्यान देना महत्वपूर्ण है, और जिसे भुला दिया जाना प्रायः आवश्यक है, वह है वह भावना जो बाह्य कर्म का आधार है, और जिसके बिना कर्म, अनुष्ठान, संपन्न नहीं होगा। यह भावना उपासक की स्वयं को प्रसन्न करने की इच्छा है। यदि हम इस दृष्टिकोण को अपनाएँ, तो कभी-कभी भेंट और बलिदान के बीच किया जाने वाला भेद हमें गुमराह नहीं करता। भेद यह है कि 'बलि' शब्द का प्रयोग केवल उसी के लिए किया जाना चाहिए जो सेवा में भस्म हो जाता है, या नष्ट हो जाता है; जबकि 'अर्पण' शब्द का प्रयोग केवल उसी के लिए किया जाना चाहिए जो नष्ट नहीं होता। और इस भेद को दर्शाने या दर्शाने का प्रयास करने का कारण यह प्रतीत होता है कि सेवा में भौतिक वस्तु का विनाश या भस्म होना, यह सिद्ध करने के लिए आवश्यक है कि भेंट स्वीकार की जाती है। हालाँकि, कुछ मामलों में यह प्रमाण अपेक्षित भी हो सकता है, क्योंकि यह दर्शाता है

कि समुदाय का यह मानना सही था कि भेंट स्वीकार की जाएगी; लेकिन तथ्य यह है कि

[68]

उपासक अपने हाथों में भेंट लेकर तब तक नहीं जाते, जब तक कि उन्हें शुरू में यह न लगे कि वह स्वीकार्य है। वे उस भेंट को लेकर देवता के निकट नहीं जाते, जिसकी स्वीकार्यता के बारे में उन्हें संदेह हो। इसलिए, जो कुछ भी उन्हें स्वीकार्य लगता, वह उनकी प्रसन्न करने की इच्छा को दर्शाने के लिए पर्याप्त होता और उन्हें प्रसन्न करने का काम करता। और अपने देवता को प्रसन्न करने वाली चीज़ करने की इच्छा शुरू से ही मौजूद होती है, क्योंकि यही वह शर्त है जिसके आधार पर वे उसके सामने आ सकते हैं। इस तथ्य की उपेक्षा हमें शुरू से ही बलिदान के अनुष्ठान में निहित संभावनाओं को अनुचित रूप से सीमित करने की ओर ले जा सकती है।

निस्संदेह, समय के साथ, यह संस्कार कुछ समुदायों में व्यापारिक भावना से थोड़ा बेहतर भावना से माना और निभाया जाने लगा। बलिदान को भगवान को अर्पित उपहार या भेंट माना जाने लगा, इस समझ के साथ कि ' करो, देस ।' विश्लेषण करने पर, वाणिज्य स्वयं कुछ और नहीं, बल्कि पाने के लिए देने के सिद्धांत का अनुप्रयोग है। धर्म को व्यापारिक सिद्धांतों तक सीमित करने के लिए केवल इतना आवश्यक है कि की गई मन्नतों का भुगतान निर्धारित वस्तुओं की डिलीवरी पर निर्भर होना चाहिए; अर्पित की गई वस्तु को भुगतान माना जाना चाहिए; भगवान की कृपा को खरीदने योग्य माना जाना चाहिए। हालाँकि, यह उन समुदायों में है जिनमें वाणिज्य के लिए कुछ योग्यता है और जिन्होंने इसे विकसित किया है, धर्म

[69]

इस प्रकार व्याख्या और अभ्यास किया जाता है। यदि हम किसी जाति के इतिहास के उस काल में वापस जाएँ जब वाणिज्य अभी तक अज्ञात था, तो हम उस स्थिति में पहुँचते हैं जब पूजा के इस प्रकार व्यवसायीकरण की संभावना अभी तक विकसित नहीं हुई थी। उस प्रारंभिक काल में, जैसा कि धर्म के इतिहास के सभी कालखंडों में रहा है, उपासकों की इच्छा थी कि वे जिसकी पूजा करते हैं, उसे प्रसन्न करें और वही करें जो उन्हें प्रसन्न करता है; और जब वे उसके पास जाते थे तो वे जो भेंट अपने साथ ले जाते थे, वह उनकी इच्छा का बाहरी और दृश्य संकेत होता था। लेकिन कुछ, या यहाँ तक कि कई मामलों में, वे अंततः उस इच्छा के बजाय संकेत या प्रतीक पर निर्भर हो गए जिसका वह संकेत था; और यह एक ऐसा खतरा है जो सभी अनुष्ठानों को लगातार घेरे रहता है। ध्यान उस आध्यात्मिक प्रक्रिया पर केंद्रित होता है जो इसके मूल में है, और जिसका अनुष्ठान केवल एक अभिव्यक्ति है; और तब अनुष्ठान के अर्थ की गलत व्याख्या करना संभव हो जाता है।

धर्म के इतिहास के आरंभिक चरणों में अर्पित किए जाने वाले प्रसाद के मामले में, कुछ मामलों में प्रसाद चढ़ाने वालों द्वारा की गई गलत व्याख्या को ही धर्म के इतिहास के कुछ विद्वानों ने प्रसाद और बलिदान की सही व्याख्या, वास्तविक अर्थ और मूल उद्देश्य के रूप में अपना लिया है। यह सिद्धांत—बलिदान का उपहार-सिद्धांत—हमें यह मानने पर मजबूर करता है कि धर्म का व्यवसायीकरण पहले भी हो सकता था।

[70]

वाणिज्य ज्ञात था; कि धर्म मूलतः ईश्वर की दृष्टि में जो अच्छा है उसे करने में नहीं, बल्कि देवताओं को रिश्वत देने में निहित था; कि अपेक्षाकृत बाद में की गई गलत व्याख्या ही अनुष्ठान का मूल और सच्चा अर्थ है; संक्षेप में, कि धर्म के प्रारंभिक प्रकटीकरण में कोई धर्म नहीं था। लेकिन यह ठीक यही अंतिम तर्क है जो दान-सिद्धांत के लिए घातक है। यह न केवल अपने आप में एक विरोधाभास है, बल्कि यह धार्मिक विकास की संभावना को ही नकारता है। विकास एक प्रक्रिया है और एक सतत प्रक्रिया है: इसके प्रारंभिक और नवीनतम चरणों के बीच एक

अटूट निरंतरता है। यदि प्रारंभिक चरणों में कोई धर्म नहीं था, तो नवीनतम चरणों में भी कोई धर्म नहीं हो सकता। और यही कारण है कि जो लोग धर्म को एक बेतुकापन मानते हैं, वे दान-सिद्धांत को अपनाने के लिए प्रवृत्त होते हैं: दान-सिद्धांत विकासवादी प्रक्रिया के आरंभ से अंत तक एक अपमानजनक बेतुकापन दर्शाता है—बेतुकेपन की एक अटूट निरंतरता। दूसरी ओर, हम इस स्पष्ट सत्य पर विश्वास कर सकते हैं कि धर्म के आरंभिक स्वरूप में धर्म अवश्य रहा होगा, और किसी देवता को रिश्वत देना, हमारे अर्थ में, धार्मिक नहीं है। उस स्थिति में, हम यह भी मानेंगे कि वे भेंटें, जो हमेशा से आरंभिक धार्मिक अनुष्ठानों का हिस्सा रही हैं, समुदाय की अपने देवता को प्रसन्न करने की इच्छा का एक बाहरी और दृश्य संकेत या प्रतीक थीं; और यह केवल समय के साथ और जैसे-जैसे

[71]

गलत व्याख्या के परिणामस्वरूप, इन भेंटों को देवताओं को रिश्वत देने या उनकी देन की वस्तुएँ खरीदने के उद्देश्य से दिए गए उपहार माना जाने लगा। इस प्रकार, जिस प्रकार धर्म के विकास में, बुतपरस्ती को बहुदेववाद से अलग करके, धार्मिक भावना की माँगों के अनुरूप न होने के कारण—जहाँ उसे अलग किया गया—छोड़ दिया गया, उसी प्रकार देवताओं की कृपा पाने के उद्देश्य से उन्हें भेंट चढ़ाना, ईश्वर द्वारा अपेक्षित सेवा से अलग माना जाने लगा।

केवल दान-सिद्धांत के माध्यम से बलिदान के इतिहास और उद्देश्य को समझाने के प्रयास का एक और नुकसान यह है कि इसके लिए हमें बलिदान संस्कार की अन्य विशेषताओं से आँखें मूंद लेनी पड़ती हैं, क्योंकि अगर हम उनकी ओर मुड़ें, तो हम पाएंगे कि दान-सिद्धांत को संस्कार में शुरू से ही जो कुछ भी था, उसका पूर्ण और विस्तृत विवरण देने वाला मानना असंभव है। वास्तव में, ये अन्य विशेषताएँ इतनी महत्वपूर्ण हैं कि, जैसा कि हमने देखा है, कुछ छात्र यह मानेंगे कि एकमात्र संस्कार जिसे उचित रूप से बलिदान कहा जा सकता है, वह वही है जो इन विशेषताओं को प्रस्तुत करता है। इस दृष्टिकोण से, बलिदान शब्द का प्रयोग केवल उस चीज़ के लिए किया जा सकता है जो सेवा में भस्म या नष्ट हो जाती है; जबकि भेंट शब्द उन चीज़ों तक सीमित है जो नष्ट नहीं होती हैं। लेकिन, इस दृष्टिकोण से, हमें यह मानना होगा कि विशिष्ट रूप से बलिदान होने के नाते, बलिदान को केवल नष्ट या भस्म नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि

[72]

तब अग्नि द्वारा भस्म की जा सकने वाली कोई भी वस्तु होमबलि बनने में सक्षम होगी; और जलाना केवल यह सिद्ध करेगा कि वह भेंट ग्रहणयोग्य है—एक ऐसा प्रमाण जो कुछ मामलों में आश्वासन को दोगुना सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक हो सकता है, लेकिन यह वास्तव में अनावश्यक था, क्योंकि कोई भी व्यक्ति जो चाहता है कि उसकी भेंट ग्रहण की जाए, वह ऐसी भेंट नहीं चढ़ाएगा जिसे वह अस्वीकार्य समझता हो। बलिदान, इस शब्द पर इस प्रकार लगाए गए विशिष्ट अर्थ में बलिदान होने के लिए, हमें ऐसी वस्तुएँ माननी चाहिए जो अपने स्वभाव से ही भस्म होने के लिए निर्दिष्ट हैं: वे भोजन की वस्तुएँ होनी चाहिए। लेकिन इस योग्यता के साथ भी, बलिदान को भेंट से संतोषजनक रूप से अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि भोजन-बलि एक भेंट है, और एक बलिदान का कार्य करती है, बशर्ते कि उसे अर्पित किया जाए। यह कि उसे वास्तव में भस्म किया जाना चाहिए, न तो सार्वभौमिक रूप से और न ही अनिवार्य रूप से आवश्यक है। यह कि इसे अक्सर सेवा में भस्म किया जाता है, एक ऐसा तथ्य है जो हमें बलि-संस्कार की एक नई और भिन्न विशेषता की ओर ले जाता है। आइए अब इस पर विचार करें।

अब तक, इस अनुष्ठान को बाहरी रूप से, दर्शक के दृष्टिकोण से देखने पर, हमने देखा है कि उपासक अपने साथ कोई भौतिक वस्तु लेकर उस स्थान के निकट पहुँचते हैं जहाँ देवता स्वयं प्रकट होते हैं। क्रियाओं और भावों की इस श्रृंखला से, हमने उपासकों की इस धारणा का अनुमान लगाया है कि वे भौतिक और आध्यात्मिक दोनों रूप से

अपने ईश्वर के निकट पहुँच रहे हैं।

[73]

यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उपासकों द्वारा भौतिक आहुति का उद्देश्य स्वयं को देवता को समर्पित करने की उनकी इच्छा का एक बाहरी और प्रत्यक्ष संकेत है। अब हमें इस बात पर ध्यान देना होगा कि इस पूरे प्रकरण में क्या निहित है, कि उपासक बिना किसी कारण के देवता के निकट नहीं आते, या बिना किसी उद्देश्य के स्वयं को देवता को समर्पित करने का प्रयास नहीं करते। और यदि हम एक बार फिर तथ्यों पर विचार करें, तो हम पाएंगे कि जिन अवसरों पर इस प्रकार देवता के पास जाया जाता है, वे सामान्यतः संकट के अवसर होते हैं, जो अनुभव किए गए या आशंका वाले होते हैं। जिन भावनाओं के साथ समुदाय निकट आता है, वे संकट या खतरे से उत्पन्न भय और इस आशा और विश्वास से मिलकर बनती हैं कि उनके द्वारा उठाए जा रहे कदम से यह संकट दूर हो जाएगा या टल जाएगा। देवता के बारे में उनकी धारणा का एक हिस्सा यह है कि वह वर्तमान को दूर कर सकते हैं और करेंगे, या आने वाली विपत्ति को टाल देंगे; अन्यथा वे उनके पास जाने का प्रयास नहीं करते। लेकिन उनकी धारणा का एक हिस्सा यह भी है कि उन्होंने उन्हें क्रोधित करने के लिए कुछ किया है, अन्यथा उन पर विपत्ति नहीं आती। इस प्रकार, जब उपासक अपने ईश्वर के समक्ष आना चाहते हैं, तो वे इस भावना के साथ उनकी खोज करते हैं कि वे उनसे अलग हो गए हैं, और वे उन्हें प्रसन्न करने की अपनी इच्छा के प्रतीक के रूप में, और ईश्वर और उनके उपासकों के बीच सामान्यतः जो संबंध होता है उसे पुनः स्थापित करने के लिए, अपने हाथों में कुछ लेकर उनके पास जाते हैं। वे जो भेंट चढ़ाते हैं उसे अर्पित करने और जो प्रार्थना करने आए थे उसे प्रस्तुत करने के बाद, वे

[74]

अब सब ठीक है, इस संतुष्टि के साथ विदा हो जाओ। यह संस्कार अब अपनी सभी आवश्यक विशेषताओं के साथ पूर्ण हो चुका है। लेकिन यद्यपि यह पूर्ण है, जैसे कोई जीव अपने इतिहास के प्रारंभिक चरणों में पूर्ण हो सकता है, फिर भी इसमें, जीव की तरह, वृद्धि की शक्ति होती है; और यह बढ़ता है।

जिस विश्वास के साथ समुदाय अनुष्ठान समाप्त करता है, वह यह हर्षपूर्ण विश्वास है कि संकट टल गया है। समुदाय जो आनंद अनुभव करता है, वह प्रायः भोज और गीत में अभिव्यक्त होता है; और जहाँ प्रसाद, जैसा कि वे प्रायः होते हैं, भोजन-प्रसाद या पशु-बलि होता है, वहाँ भोज को ऐसा भोज माना जा सकता है जिसमें स्वयं देवता उपस्थित होते हैं और जिसमें वे अपने उपासकों के साथ भाग लेते हैं। हालाँकि, भोज और गीत में अभिव्यक्त होने वाला आनंद, तब तक महसूस नहीं हो सकता जब तक समुदाय की प्रार्थना पूरी न हो जाए और विपत्ति टल न जाए; और तब भोज एक हर्षित धन्यवाद-प्रसाद का स्वरूप ले लेता है। लेकिन संभवतः इन दोनों में से किसी एक स्थिति में ही भोज और गीत की सेवा में प्रसाद का सेवन किया जाता है। और यद्यपि यह अनुष्ठान इस प्रकार विकसित हो सकता है और होता भी है, फिर भी इसका यह विकास—'देवता के साथ भोजन करना'—संस्कार के प्रारंभिक रूप में वास्तविक रूप से उपस्थित होने के बजाय संभावित रूप से मौजूद होता है।

इस दृष्टिकोण से, बलि भोज या भोज अनुष्ठान का हिस्सा नहीं हैं: वे अनुष्ठान के समापन से संबंधित हैं। वे

[75]

मेल-मिलाप का तथ्य; वे इस विश्वास की अभिव्यक्ति हैं कि मैत्रीपूर्ण संबंध पुनः स्थापित हो गए हैं। अतः बलि भोज मेल-मिलाप का साधन नहीं है, बल्कि इस विश्वास की बाहरी अभिव्यक्ति है कि लक्ष्य प्राप्त हो गया है; और, अभिव्यक्ति के रूप में, इसमें विश्वास की पुष्टि करने की शक्ति होती है। जहाँ बलि-अनुष्ठान एक बलि-भोज या भोज के रूप में विकसित होता है, वहाँ सेवा में अन्न-आहुति या बलिदान का सेवन किया जाता है। लेकिन अनुष्ठान

हमेशा इस प्रकार विकसित नहीं होता; और इस विकास के बिना भी यह अपना उचित कार्य करता है। इस विकास से पहले, संकट के अवसरों पर ही समुदाय द्वारा देवता के पास इस विश्वास के साथ जाया जाता है कि समुदाय ने अपमान किया है, और इसका उद्देश्य समुदाय को शुद्ध करना, संकट को दूर करना, देवता को प्रसन्न करना और अच्छे संबंध पुनः स्थापित करना है। फिर भी इस स्तर पर भी समुदाय का उद्देश्य अपने देवता के साथ एकाकार होना है—अब तक एकाकारता और समागम की ही खोज की जाती है। इसमें यह विश्वास निहित है कि वह, समुदाय का देवता, हमेशा के लिए अलग-थलग नहीं रह सकता और उन्हें पूरी तरह से त्याग नहीं देगा, भले ही वह कुछ समय के लिए अलग-थलग क्यों न हो। निस्संदेह, यह भोज, जो कुछ मामलों में बलि-संस्कार का प्रतीक बन गया, उन लोगों के बीच प्रचलित हो सकता है जो मानते थे कि साझा भोजन करने वाले लोग एक सामान्य बंधन से जुड़ जाते हैं, और इसे एक नए बंधन और अधिक घनिष्ठ संबंध का प्रतीक माना जाने लगा है।

[76]

देवता और उनके उपासकों के बीच संवाद, जो समान रूप से बलि भोज में भाग लेते थे। लेकिन यह विश्वास संभवतः सार्वभौमिक होने या रहा भी नहीं है; और यह मान लेना अनावश्यक है कि जहाँ भी हम आनन्द के साथ बलि अनुष्ठान संपन्न होते हुए पाते हैं, वहाँ यह विश्वास अवश्य रहा होगा। बलि अनुष्ठान का प्रदर्शन समुदाय और उसके देवता के बीच सामान्य संबंध को पुनर्स्थापित करने की इच्छा से प्रेरित होता है। यह इस विश्वास के साथ किया जाता है कि देवता सामान्य संबंध में लौटने के लिए तैयार हैं; जब यह संपन्न हो जाता है, तो समुदाय राहत महसूस करता है और आनन्दित होता है, चाहे आनन्द भोज का रूप ले या न ले; और आनन्द का सार यह विश्वास है कि अब सब ठीक है, एक ऐसा विश्वास जो बलि अनुष्ठान के प्रदर्शन से उत्पन्न होता है, न कि उस भोज से जो उसके बाद हो भी सकता है और नहीं भी।

जहाँ कहीं भी बलि-भोज की प्रथा विकसित हुई, वहाँ स्वाभाविक प्रवृत्ति यह रही कि यह पूरे अनुष्ठान का सबसे महत्वपूर्ण अंग बन गया। इस अनुष्ठान का मूल और आधारभूत उद्देश्य ईश्वर और उसके उपासकों के बीच सामंजस्य स्थापित करना और उन्हें एक बनाना था: इसलिए, यह उत्सव, जो अनुष्ठान के मूल उद्देश्य की पूर्ति का प्रतीक था, अनुष्ठान का उद्देश्य माना जाने लगा। हालाँकि, इसमें धार्मिक रुचि के केंद्र को बलिदान से हटाकर उत्सव की ओर स्थानांतरित करने के अलावा और कुछ नहीं है:

[77]

इसमें ऐसा कुछ भी नहीं था जो भोज के स्वरूप या अवधारणा को बदल सके। फिर भी, कुछ लोगों के मामले में, इसके स्वरूप और अवधारणा में उल्लेखनीय रूप से बदलाव आया। कुछ लोगों के मामले में, हम पाते हैं कि यह भोज 'ईश्वर के साथ भोजन' का अवसर नहीं है, बल्कि जिसे मोटे तौर पर 'ईश्वर को खाना' कहा गया है, वह है। जैसा कि आम तौर पर माना जाता है, यह अवधारणा मेक्सिको में एज़्टेक लोगों के बीच, और शायद—हालांकि संदेह की संभावना से परे नहीं—अन्यत्र भी मौजूद थी।

एज़्टेक एक बर्बर या अर्ध-सभ्य लोग थे, जिनका एक लंबा इतिहास रहा है। जिन परिस्थितियों में यह विश्वास और प्रथा उनके बीच अस्तित्व में आई और विकसित हुई, वे स्पष्ट हैं। एज़्टेक देवताओं की पूजा करते थे, और उन देवताओं में मक्का जैसे पौधे और सब्ज़ियाँ भी शामिल थीं। बेशक, वे किसी एक विशिष्ट प्रजाति की पूजा नहीं करते थे: वे आत्मा, मक्का-माता की पूजा करते थे, जो प्रत्येक मक्का के पौधे में प्रकट होती थी, लेकिन किसी एक के समान नहीं थी। साथ ही, हालाँकि वे आत्मा या प्रजाति की पूजा करते थे, वे अलग-अलग पौधों को उगाते और उगाते थे, ताकि उन्हें भोजन मिल सके। इस प्रकार वे उस पौधे, शरीर को भोजन के रूप में खाने की स्थिति में थे, जिसमें वह आत्मा प्रकट होती थी जिसकी वे पूजा करते थे। इसमें ईसाई धर्म के संस्कार से एक बाहरी समानता थी, जिसने लोगों का ध्यान आकर्षित किया।

[78]

मेक्सिको की विजय के समय स्पेनिश पुजारियों ने इस अनुष्ठान को अपनाया था, लेकिन संभवतः उन्होंने अनजाने में इसे बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया है। उन्होंने स्वाभाविक रूप से एज़्टेक समारोह की व्याख्या ईसाई धर्म के संदर्भ में की, और अनुवाद की भावना संभवतः मूल की भावना से भिन्न है।

अब हमें बलि के नए चरण पर विचार करना है—वास्तव में, इस संबंध में, हम इसे संस्कारात्मक कह सकते हैं—जो मेक्सिको में पाया गया था, और यह इंगित करना है कि इसकी उत्पत्ति संभवतः किस प्रकार हुई। देवताओं को अर्पित किए जाने वाले आरंभिक प्रसाद आवश्यक रूप से नहीं, बल्कि संभवतः, खाद्य-प्रसाद थे, चाहे वे पशु हों या वनस्पति; और चूँकि हम यह पुष्टि करने की स्थिति में नहीं हैं कि अर्पित किए जाने वाले भोजन के प्रकार पर कोई प्रतिबंध था, इसलिए यह मान लेना उचित प्रतीत होता है कि किसी भी प्रकार के देवता को किसी भी प्रकार का भोजन अर्पित किया जा सकता था। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद का उद्देश्य केवल यह दर्शाना है कि उपासक उस देवता की दृष्टि में प्रसन्न होना चाहते हैं जिसके पास वे जाना चाहते हैं। इस संस्कार के सबसे सरल और प्रारंभिक चरण में, बलि भोज अभी अस्तित्व में नहीं आया था: यदि भोजन देवता को अर्पित कर दिया जाए तो ही पर्याप्त है; यह आवश्यक नहीं है कि उसे खाया जाए, या उसका कोई अंश समुदाय द्वारा खाया जाए। इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि सामान्यतः देवता के अंश को खाने से घृणा होती थी। यदि उपासक कुछ हिस्सा खाते भी तो वे निश्चित रूप से नहीं खाते और खाते भी नहीं।

[79]

जब तक देवता ऐसा न कर लें। अनुष्ठान के विकास के इस चरण में, भेंटें कभी-कभार ही चढ़ाई जाती हैं, और निर्धारित, आवर्ती, ऋतुओं पर नहीं चढ़ाई जातीं। ऐसा मानने का कारण यह है कि समुदाय भय और संकट के अवसरों पर ही अपने देवता के निकट जाना चाहता है। हालाँकि समुदाय भय के कारण निकट आता है, लेकिन वह इस विश्वास के साथ निकट आता है कि देवता को प्रसन्न किया जा सकता है और वह प्रसन्न होने के लिए तैयार है। समुदाय के अपने ईश्वर के बारे में यह धारणा है कि उसके पास दंड देने की शक्ति है; वह अपनी शक्ति का प्रयोग अकारण नहीं करता; और जैसे वह शक्तिशाली है, वैसे ही वह अपने उपासकों के प्रति न्यायी और दयालु भी है।

हालाँकि, संकट के समय में बहुत मददगार माने जाने वाले देवताओं को कभी-कभार चढ़ावे और बलिदान चढ़ाए जाते रहे हैं, लेकिन धर्म के इतिहास में अपेक्षाकृत बाद के काल तक, हम पाते हैं कि सालाना आवर्ती बलिदान भी होते रहे हैं। इन वार्षिक समारोहों में, चढ़ावे भोजन-प्रसाद होते हैं। जहाँ भोजन-प्रसाद वनस्पति भोजन के होते हैं, वे फसल के समय चढ़ाए जाते हैं। वे फसल के अवसर पर चढ़ाए जाते हैं; और उनका इस तरह चढ़ाया जाना शायद कोई संयोग या आकस्मिक संयोग नहीं है। फसल के नियमित रूप से आवर्ती मौसम में, समुदाय पहले से बनी हुई प्रथा का पालन करता है, कि अपने देवता को चढ़ाए गए भोजन को तब तक नहीं खाता, जब तक कि उसका एक हिस्सा देवता को अर्पित न कर दिया जाए। प्रथा,

[80]

अन्य रीति-रिवाजों की तरह, यह भी अनिवार्य हो जाता है: उपासक, यानी समुदाय, तब तक भोजन नहीं कर सकते जब तक कि प्रसाद अर्पित न हो जाए और उसे स्वीकार न कर लिया जाए। फिर, उपासक अपने देवता की उपस्थिति में, गंभीरता से भोजन कर सकते हैं। भोजन करना धन्यवाद का एक पवित्र उत्सव बन जाता है। जिस देवता के नाम पर वे भोजन करते हैं और जिसके प्रति वे धन्यवाद व्यक्त करते हैं, वही देवता उन्हें भोजन देता है।

इस प्रकार, जो बात खाद्य पौधों के लिए सत्य है—चाहे वे जंगली हों या पालतू—वह कुछ हद तक पशु जीवन के लिए भी सत्य हो सकती है, जहाँ 'समाप्ति समय' जैसी कोई चीज़ देखी जाती है।

इस प्रकार, जैसे-जैसे बलिदान समारोह वार्षिक रूप से दोहराए जाने वाले अनुष्ठान बन जाते हैं, समुदाय के ईश्वर के बारे में विचार में भी उसी अनुरूप विकास होता है। जब तक बलिदान समारोह एक अनियमित रूप से दोहराया जाने वाला अनुष्ठान था, जिसका प्रदर्शन किसी आपदा के घटित होने या उसके खतरे से प्रेरित होता था, तब तक धार्मिक चेतना के अग्रभाग में, यूँ कहें कि, ईश्वर का प्रकोप ही था; हालाँकि इसके पीछे उसके न्याय और उसकी दया का विश्वास निहित था। लेकिन जब यह समारोह वार्षिक पूजा का एक नियमित रूप से दोहराया जाने वाला अवसर बन जाता है, जिस पर उपासक यह स्वीकार करते हैं कि यह ईश्वर ही है, जिसके प्रथम फल हैं, जो उपासकों को फसल देता है, तब समुदाय के ईश्वर के बारे में विचार उसी अनुरूप विकसित होता है। बलिदान समारोह का अवसर अब भय और

[81]

संकट; अब धार्मिक चेतना में ईश्वर का प्रकोप नहीं, बल्कि अच्छे उपहारों के दाता के रूप में उसकी अच्छाई उभर कर सामने आती है। फसल कटाई के अनुष्ठान प्रायः धन्यवाद और धन्यवाद-बलि के पर्व बन जाते हैं; और इसलिए, इन आनंदमय उत्सवों के विपरीत, संकट के समय में भी कभी-कभार दी जाने वाली बलि, अधिकाधिक पाप-बलि या दोष-बलि का रूप धारण कर लेती है।

हालाँकि, अब हमें समुदाय की उस प्रथा के परिणाम पर ध्यान देना होगा जिसमें देवता को प्रथम फल अर्पित किए जाने तक भोजन न करने की बात कही जाती है। किसी आदत या रिवाज को तोड़ना न केवल इसलिए कठिन होता है क्योंकि वह एक आदत है; बल्कि, जब वह आदत पूरे समुदाय की आदत हो, तो जो व्यक्ति उसका उल्लंघन करने का साहस करता है, उसे पूरे समुदाय की अस्वीकृति और निंदा का सामना करना पड़ता है। जब देवता को प्रथम फल अर्पित किए जाने तक भोजन न करने की प्रथा स्थापित हो जाती है, तो उस प्रथा के किसी भी उल्लंघन की पूरे समुदाय द्वारा निंदा की जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि समुदाय उस फल या पशु को देवता के लिए पवित्र मानता है, और प्रथम फल अर्पित किए जाने तक उससे छेड़छाड़ नहीं की जानी चाहिए। वह पौधा या पशु देवता के लिए पवित्र हो जाता है क्योंकि समुदाय ने उसे देवता को अर्पित किया है, और उसे अर्पित करने का इरादा रखता है, और प्रतिवर्ष उसे अर्पित करता है। अब यह

[82]

यह कोई आवश्यक और अपरिहार्य परिणाम नहीं है कि कोई पशु या पौधा, जो पवित्र हो गया है, दिव्य हो जाए। लेकिन जहाँ हमें दिव्य पशु या पशु देवता—दिव्य मक्का या मक्का-देवियाँ—मिलते हैं, हमें इसे एक ऐसे तरीके के रूप में मानने का अधिकार है जिससे उन्हें पवित्र होने के कारण दिव्य और दिव्य होने के कारण देवता माना जाने लगा हो। जब हम पाते हैं कि दिव्य पौधा या पशु बलि का निर्माण करता है और बलि का भोजन प्रस्तुत करता है, तो संभावना है कि इसी प्रकार और इसी प्रक्रिया से वह पौधा या पशु पहले पवित्र, फिर दिव्य और अंततः वह देवता बना, जिसे वह अर्पित किया गया था। कई मामलों में, निश्चित रूप से, यह अंतिम चरण कभी प्राप्त नहीं हुआ। और हम अनुमान लगा सकते हैं कि यह क्यों प्राप्त नहीं हुआ। यह प्राप्त किया जा सकता है या नहीं, यह काफी हद तक उस देवता की वैयक्तिकता की डिग्री पर निर्भर करेगा, जिसे वह देवता, जिसे भेंट चढ़ाई गई थी, प्राप्त कर चुका था। जिस देवता का एक उचित, व्यक्तिगत नाम होता है, उसके पीछे एक लंबा इतिहास अवश्य होता है, क्योंकि व्यक्तिगत नाम एक विशेषण होता है जिसका अर्थ समय के साथ विस्मृत हो जाता है। यदि इसका अर्थ पूरी तरह से विस्मृत हो गया है, तो इससे यह दर्शाया जाता है कि देवता का न केवल एक लंबा इतिहास है, बल्कि उसने एक उच्च स्तर का व्यक्तित्व और व्यक्तित्व भी प्राप्त कर लिया है, जो उसे अर्पित किए जाने वाले प्रसाद से

परिवर्तित या परिवर्तित नहीं होगा। हालाँकि, जहाँ भी पूजित प्राणी या शक्ति है, वह वनवासियों की तरह है।

[83]

छोटा नागपुर, अभी भी अनाम, उसका व्यक्तित्व और वैयक्तिकता अत्यंत अस्पष्ट होनी चाहिए; और, उस स्थिति में, यह संभावना है कि उसे अर्पित किया गया पौधा या पशु उसके लिए पवित्र हो जाए; और पवित्र होकर, दिव्य भी हो जाए। पशु या पौधा वह बन सकता है जिसमें अनाम सत्ता स्वयं प्रकट होती है। मक्का या मक्का अनाम देवता को अर्पित किया जाता है; देवता वह सत्ता है जिसे मक्का या मक्का आदतन अर्पित किया जाता है; और फिर वह मक्का-देवता या मक्का-देवता, मक्का की माता या मक्का-देवी बन जाता है।

इटली की डि इंडिजिटेस की तरह , इन वनस्पति-देवियों को भी ऐसे नामों से संबोधित किया जाता है, जो व्यक्तिगत नामों का कार्य करते हुए और उपासकों को देवताओं से व्यक्तिगत रूप से प्रार्थना करने में सक्षम बनाते हुए भी, पूरी तरह से स्पष्ट अर्थ रखते हैं। दोनों ही हमें एक देवता के विकास की उस अवस्था को प्रस्तुत करते हैं, जिसमें अभी तक उनके नाम का अर्थ जीवित है; जिसमें उनका नाम अभी तक पूर्णतः व्यक्तिगत नाम नहीं बना है; और जिसमें उन्होंने अभी तक पूर्ण व्यक्तित्व और पूर्ण वैयक्तिकता प्राप्त नहीं की है। पूर्ण वैयक्तिकता के इस अभाव को इसके साथ जुड़े एक अन्य तथ्य से शायद ही अलग किया जा सकता है। वह तथ्य यह है कि देवता अपने लिए पवित्र प्रजाति के किसी भी पौधे में, या अपने लिए पवित्र प्रजाति के किसी भी पशु में पाया जा सकता है, लेकिन यह नहीं माना जाता है कि वह केवल उस विशेष पौधे या पशु में पाया जाता है जिसे किसी विशेष अवसर पर चढ़ाया जाता है।

[84]

यदि इस वर्ष अपने फसल उत्सव में अनाज की देवी किसी एक विशेष अनाज के ढेर में उपस्थित हैं या स्वयं प्रकट होती हैं, तो भी उन्होंने पिछले वर्ष स्वयं को प्रकट किया था और अगले वर्ष किसी अन्य में स्वयं को प्रकट करेंगी। देवता, अर्थात्, प्रजाति है; और प्रजाति, न कि उसका कोई व्यक्तिगत नमूना, देवता है। यही वह कारण है जो इस प्रकार के देवताओं को पूर्ण व्यक्तित्व प्राप्त करने से रोकता है, या रोकने की प्रवृत्ति रखता है।

पूर्ण वैयक्तिकता और पूर्ण व्यक्तित्व का अभाव ही कुलदेवताओं की विशेषता है। कुलदेवता भी एक ऐसा प्राणी है जो यदि इस विशिष्ट पशु में, जो मारा गया है, स्वयं को प्रकट करता है, तो उसी प्रजाति के अन्य पशुओं में भी स्वयं को प्रकट कर चुका है और करेगा: परन्तु वह किसी विशिष्ट नमूने के समरूप नहीं है। इस प्रकार न केवल कुलदेवता का वैयक्तिकता अपूर्ण है, बल्कि कई उदाहरणों में प्रजाति का नाम कुलदेवता के लिए एक उचित व्यक्तिगत नाम में परिवर्तित होना शुरू नहीं हुआ है, जैसे 'सेरेस' या 'चिकोमेकोटल' या 'ज़िलोनेन' व्यक्तिगत देवताओं के उचित नामों में परिवर्तित हो गए हैं। चाहे हम कुलदेवता को देवता मानें या न मानें, किसी भी स्थिति में, उसे एक ऐसे प्राणी के रूप में देखा जाए जो वैयक्तिकता प्राप्त करने की प्रक्रिया में है, ऐसा प्रतीत होता है कि वह इसे उसी प्रकार और उसी प्रक्रिया से प्राप्त कर रहा है, जैसे मक्का-देवियों और मक्का-माताओं ने अपना वैयक्तिकता प्राप्त किया था, और हमारी आँखों के सामने विकास की एक अवस्था प्रस्तुत करता है जिससे ये वनस्पति-देवता स्वयं गुजरे हैं।

[85]

एक समय ऐसा भी था जब उन्हें वे व्यक्तिगत नाम नहीं मिले थे जिनसे उन्हें बाद में संबोधित किया जाने लगा। वे, यद्यपि अनाम, अनाज या मक्के के हर ढेर में उपस्थित प्राणी थे, हालाँकि किसी एक ढेर या ढेरों ढेरों तक सीमित नहीं थे। और इन प्राणियों में देवता बनने की क्षमता थी—क्योंकि वे देवता बन गए थे। जिस प्रक्रिया और जिस अवधि में वे देवता बन गए होंगे, उसका हम पहले ही सुझाव दे चुके हैं: अवधि वह अवस्था है जिस पर मूल रूप से

संकट के अनियमित समय पर चढ़ाई जाने वाली भेंट, फसल के समय चढ़ाई जाने वाली वार्षिक भेंट बन जाती है; प्रक्रिया वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा जो प्रथागत है वह अनिवार्य हो जाती है। फसल के समय चढ़ाई जाने वाली भेंट, प्रथागत रूप से, अनिवार्य हो जाती है। जो कुछ भी चढ़ाया जाता है, वह पवित्र होता है; उसे इस वर्ष उसी प्रकार चढ़ाने का इरादा ही, जिस प्रकार पिछले वर्ष चढ़ाया गया था, उसे चढ़ाने से पहले पवित्र बनाने के लिए पर्याप्त है। इस प्रकार, पूरी प्रजाति, चाहे वह पौधा हो या पशु, उस देवता के लिए पवित्र हो जाती है जिसे वह चढ़ाया जाता है: वह उसी का है। और अगर वह उस शक्ति या सत्ता की तरह अस्पष्ट और छायादार है जिसे छोटा नागपुर के वनवासी निर्धारित ऋतुओं में अपनी भेंट चढ़ाते हैं, तो उसे उस पौधे या पशु प्रजाति में खोजा और पाया जा सकता है जो उसकी है। फसल केवल उसकी है, जब तक कि पहले फल अर्पित न कर दिए जाएँ। वह पौधों को उगाता है: अगर वे असफल होते हैं, तो समुदाय उसी से प्रार्थना करता है। अगर वे फलते-फूलते हैं, तो इसका कारण वह है, हालाँकि समान नहीं।

[86]

उनके साथ, फिर भी एक तरह से उनमें मौजूद है, और उस सत्ता से अलग नहीं है जो न केवल प्रजाति के प्रत्येक पौधे या जानवर में खुद को प्रकट करता है, हालांकि किसी के साथ समान नहीं है, बल्कि प्रजाति के नाम से पुकारा जाता है।

क्या हमें ऑस्ट्रेलिया में पाए जाने वाले कुलदेवताओं में, उस अवस्था के प्राणियों को देखना चाहिए जहाँ से वनस्पति देवता संभवतः गुज़रे होंगे, इससे पहले कि वे अनाज की देवियाँ और मक्के की माताएँ बन जाएँ, यह एक प्रश्न है, जिसका उत्तर उन अनुष्ठानों की हमारी व्याख्या पर निर्भर करता है जिनमें वे शामिल हैं। कम से कम, उन अनुष्ठानों को प्रथम फल के अनुष्ठान से अलग करना कठिन है। समुदाय उचित मौसम में पशु या पौधे का मांस तब तक नहीं खा सकता, जब तक कि मुखिया पूरी गंभीरता और संयम से उसका सेवन न कर ले। इस अनुष्ठान की गंभीरता और इसे करने वालों के सम्मान के बारे में कोई संदेह नहीं है। लेकिन, जहाँ अन्यत्र प्रथम फल के अनुष्ठान में, प्रथम फल, संदेह या भूल की संभावना से परे, किसी देवता, किसी व्यक्तिगत देवता, जिसका एक उचित नाम हो, को अर्पित किए जाते हैं, वहीं ऑस्ट्रेलिया में इस बात का कोई संतोषजनक प्रमाण नहीं है कि इन अर्पणों को करने वालों द्वारा किसी देवता को अर्पित किया जाना माना जाता है; या यह कि कुलदेवता-आत्मा, यदि उसे कुलदेवता-प्रजाति से अलग किया जाए, तो उसे ईश्वर माना जाता है। तदनुसार, धर्म विज्ञान के विद्यार्थियों में यह प्रवृत्ति रही है कि वे धर्म के विकास में कुलदेवतावाद को कोई स्थान न दें, और यहाँ तक कि उसे ईश्वर भी न मानें।

[87]

ऑस्ट्रेलियाई अश्वेत लोग, हमारे अवलोकन क्षेत्र में, मानव विकास की प्रक्रिया में एक पूर्व-धार्मिक काल के उदाहरण हैं। इस बाद वाले दृष्टिकोण को सुरक्षित रूप से अस्वीकार्य माना जा सकता है, चाहे हम टोटेमवाद को धार्मिक पक्ष मानें या न मानें। ऑस्ट्रेलियाई जनजातियों में अभी भी पर्याप्त पौराणिक कथाएँ मौजूद हैं, जो दर्शाती हैं कि उनके बीच देवताओं में विश्वास जीवित है, हालाँकि, जैसा कि प्रतीत होता है, अब उन देवताओं की, जिनके व्यक्तिगत नाम मिथकों में वर्णित हैं, कोई पूजा नहीं होती। यह कि मिथक तब भी जीवित रहते हैं, जब पूजा बंद हो जाती है; और यह कि देवताओं के नाम तब भी बने रहते हैं, जब उनके बारे में मिथक नहीं कहे जाते, ये सभी विशेषताएँ धार्मिक प्रणालियों के पतन में देखी जा सकती हैं, पूरी दुनिया में, और केवल ऑस्ट्रेलिया में ही नहीं। यह तथ्य कि ये विशेषताएँ ऑस्ट्रेलिया में पाई जाती हैं, एक ऐसे विचार की ओर इशारा करती है जिसे अब तक आमतौर पर अनदेखा किया गया है, या पर्याप्त रूप से तौला नहीं गया है। वह यह है कि ऑस्ट्रेलिया में हम सामान्य धार्मिक पतन के बीच में हैं, और न तो धर्म के जन्म को देख रहे हैं और न ही किसी पूर्व-धार्मिक काल की उपस्थिति में। इस दृष्टिकोण से, मिथकों में वर्णित देवताओं की पूजा बंद हो गई है, लेकिन उनके नाम जीवित हैं। और इस दृष्टिकोण

से, कुलदेवता-आधारित प्रथम-फल समारोहों में पूजे जाने वाले प्राणियों के नाम लुप्त हो गए हैं, हालाँकि ये समारोह विस्तृत, गंभीर और श्रद्धापूर्ण होते हैं।

[88]

जटिल और दीर्घकालीन हो गया है; तथा धर्म कर्मकाण्ड में समा गया है।

यहाँ तक कि एज़्टेक लोगों में भी, जो सामाजिक विकास के उस स्तर पर पहुँच चुके थे, बर्बर या अर्ध-सभ्य, जो ऑस्ट्रेलियाई जनजातियों द्वारा प्राप्त किसी भी स्तर से कहीं अधिक था, वनस्पति देवताओं द्वारा प्राप्त व्यक्तित्व और वैयक्तिकता का स्तर ऐसा नहीं था कि उन देवताओं के निश्चित रूप से उचित नाम हों: मक्के की देवी अभी भी केवल 'मक्का-माता' ही थी। ऑस्ट्रेलियाई लोगों में, जो मेक्सिको के स्तर से बहुत नीचे हैं, प्रथम-फल समारोहों में पूजे जाने वाले प्राणी संभवतः उतने ही अनाम रहे होंगे जितने छोटा नागपुर के वनवासियों द्वारा पूजे जाने वाले प्राणी। इन अनाम प्राणियों के इर्द-गिर्द, एक अनुष्ठान, जो मूल में सरल, लेकिन अपने विकास में प्रचुर है, विकसित हुआ है, जो उन्हें हमारी दृष्टि से ढक और अस्पष्ट कर देता है, जिससे हम, और शायद उपासक, अनुष्ठान के देवता को नहीं देख पाते।

मेक्सिको में वनस्पति-देवियाँ अधिक विकसित देवताओं के समूह के बीच अस्तित्व के लिए संघर्ष करती रहीं, ठीक वैसे ही जैसे इटली में डिडिजिटेस ने राज्य के महान देवताओं के साथ, एक नुकसानदेह स्थिति में, प्रतिस्पर्धा की। ऑस्ट्रेलिया में मिथकों के महान देवताओं ने टोटेमवाद के प्रसार से पहले या उसके आगे हार मान ली। जहाँ देवताओं की पूजा उनसे अपेक्षित लाभों के लिए की जाती है, वहाँ समुदाय की खाद्य आपूर्ति के प्रभारी प्राणियों की न केवल पूजा की जाएगी

[89]

प्रथम फल के मौसम में प्रतिवर्ष, लेकिन उन प्राचीन देवताओं के प्रति प्रदर्शित की जा सकने वाली तुलना में अधिक उत्साह और निरंतर भक्ति के साथ, जिनकी पूजा केवल अनियमित समय पर की जाती है। ऑस्ट्रेलिया में पौराणिक कथाओं का अस्तित्व न केवल यह दर्शाता है कि मिथकों में वर्णित देवताओं की कभी पूजा की जाती थी, हालाँकि अब उनकी पूजा नहीं की जाती; बल्कि टोटेम अनुष्ठान अपने स्वभाव से ही दर्शाते हैं कि वे बलि अनुष्ठान का एक बाद का विकास हैं। इस अनुष्ठान का सबसे सरल रूप वह है जिसमें समुदाय अपने देवता के निकट जाता है, और अपने साथ देवता को स्वीकार्य भेंट लेकर जाता है: अनुष्ठान के विकास के एक बाद के चरण में देवता द्वारा स्वीकार किए जाने के बाद, समुदाय द्वारा भेंट का उपभोग किया जाता है, जैसा कि टोटेम पशुओं और पौधों के मामले में होता है। अपने प्रारंभिक चरण में, यह अनुष्ठान अनियमित समय पर, संकट के अवसरों पर किया जाता है: केवल एक अधिक उन्नत चरण में ही यह अनुष्ठान निश्चित, वार्षिक समय पर किया जाता है, जैसा कि ऑस्ट्रेलिया में होता है। और आवधिकता का यह परिवर्तन स्पष्ट रूप से इस विश्वास के विकास से जुड़ा है कि वार्षिक प्रथम फल देवताओं के हैं—यह विश्वास इस विश्वास से उपजा है कि देवता उन्हें प्रतिवर्ष स्वीकार करते हैं, एक ऐसा विश्वास जो बदले में इस पूर्व विश्वास को दर्शाता है कि वे स्वीकार्य हैं। दूसरे शब्दों में, धार्मिक रुचि का केंद्र सबसे पहले ईश्वर के पास जाने में, अर्थात् संबंधों की सामान्य स्थिति को बहाल करने की इच्छा में निहित है,

[90]

यह विपत्ति विक्षुब्धता दर्शाती है। लेकिन अंततः, धार्मिक रुचि उस भोज पर केंद्रित होती है और उसी के द्वारा व्यक्त होती है जो समारोह का समापन करता है और इस तथ्य का प्रतीक है कि मेल-मिलाप संपन्न हुआ है। भोज में देवता द्वारा जो कुछ भी आरंभ में स्वीकार किया जाता है, वह उनका अपना और उनके लिए पवित्र माना जाने

लगता है: उपासक उसे तब तक नहीं छू सकते जब तक कि उसका एक अंश, अर्थात् प्रथम फल, उनके द्वारा स्वीकार न कर लिया जाए। इस प्रकार वह अनुष्ठान जो उनकी स्वीकृति को दर्शाता और चिह्नित करता है, पहले से कहीं अधिक धार्मिक रुचि का केंद्र बन जाता है। इस प्रकार अनुष्ठान देवता से भी अधिक महत्वपूर्ण हो सकता है, जैसा कि ऑस्ट्रेलिया में प्रतीत होता है; क्योंकि यदि समुदाय को फसल का फल खाने की अनुमति देनी है तो अनुष्ठान का पालन अनिवार्य है। जब यह दृष्टिकोण प्राप्त हो जाता है, जब अनुष्ठान का पालन अनिवार्य हो जाता है, तो अनुष्ठान को जादुई माना जाने लगता है। यदि ऑस्ट्रेलियाई अनुष्ठान के मामले में ऐसा ही हुआ है, तो यह वही है जो होता है, जहाँ भी धर्म की कीमत पर अनुष्ठान फलता-फूलता है। अगर यह मान लेना ज़रूरी होता कि केवल ऑस्ट्रेलियाई अश्वेत लोगों में ही, और कहीं और नहीं, कोई धार्मिक अनुष्ठान जादुई बन जाता है, तो यह बिल्कुल असंभव होता कि ऑस्ट्रेलिया में ऐसा हुआ हो। लेकिन चूँकि यह प्रवृत्ति अनुष्ठानों में जन्मजात होती है, इसलिए यह संभव है कि ऑस्ट्रेलिया में भी यह प्रवृत्ति अपना दौर चला चुकी हो, जैसा कि अन्यत्र, उदाहरण के लिए भारत में हुआ है, जहाँ भी बलि-संस्कारों का प्रचलन है।

[91]

जादुई बन जाना। कोई अनुष्ठान, जो मूलतः धार्मिक था, जादू में समाहित हो जाएगा या नहीं, यह बहुत हद तक इस बात पर निर्भर करता है कि समुदाय जादू में किस हद तक विश्वास करता है। समुदाय जितना अधिक जादू में विश्वास करता है, उतना ही वह अपने धार्मिक अनुष्ठानों की जादुई व्याख्या करने के लिए तैयार होगा। लेकिन यह तथ्य कि निचले समुदायों में, धर्म के हमेशा जादू में डूबने का खतरा रहता है, यह साबित नहीं करता कि धर्म जादू से उत्पन्न हुआ है और केवल एक प्रकार का जादू है। यह दृष्टिकोण, जो कभी कुछ छात्रों द्वारा अपनाया गया था, अब आम तौर पर त्याग दिया गया है। इसका अर्थ केवल यह कहना है कि धर्म के प्रारंभिक रूपों में कोई धर्म नहीं था, और धर्म अब भी वही है जो वह आरंभ में था—केवल जादू। यदि इस स्थिति को त्याग दिया जाता है, तो धार्मिक अनुष्ठान, अपने मूल स्वरूप में, और अपने मूल से ही, जादुई अनुष्ठानों से भिन्न होते हैं। धार्मिक अनुष्ठान, सबसे पहले, समीपता के अनुष्ठान हैं, जिनके द्वारा समुदाय अपने ईश्वर के निकट जाता है; और, उसके बाद, पवित्र भोज के अनुष्ठान हैं, जिनके द्वारा समुदाय अपने मेल-मिलाप का उत्सव मनाता है और अपने ईश्वर के साथ संवाद का आनंद लेता है। ये भोजन आम तौर पर 'ईश्वर के साथ भोजन' के उदाहरण होते हैं, जो प्रथम फल के अवसर पर मनाए जाते हैं, और इस विश्वास पर आधारित होते हैं, जो धीरे-धीरे विकसित हुआ है, कि 'पृथ्वी और उसकी परिपूर्णता ईश्वर की है।' ऐसे भोजन, जो मेक्सिको में पाए जाते थे, और जिन्होंने ऑस्ट्रेलिया में भी अपने निशान छोड़े हैं, जिनमें चढ़ाए गए फल या पशु को भगवान के आशीर्वाद के रूप में माना जाता था।

[92]

ईश्वर के साथ वैसा ही संबंध जैसा एक व्यक्ति का प्रजाति के साथ होता है, वे भोजन हैं जिनकी उत्पत्ति उसी प्रकार होती है जैसे समुदाय अपने ईश्वर के साथ खाता है, लेकिन विकास की एक भिन्न रेखा का अनुसरण करता है।

बलि-संस्कार का उद्देश्य पहले समुदाय और उसके देवता के बीच अच्छे संबंधों को पुनर्स्थापित करना और फिर उन्हें बनाए रखना है। तार्किक निष्कर्ष पर पहुँचने पर, या यूँ कहें कि तार्किक प्रदर्शन के लिए आवश्यक पूर्वधारणाओं पर वापस पहुँचने पर, संबंधों को नवीनीकृत या पुनर्स्थापित करने का विचार ही समुदाय और उसके देवता के बीच एक मौलिक समझ का संकेत देता है; और यह दर्शाता है कि समुदाय का इस समझ से भटक जाना ही उसे उस विपत्ति में फँसाता है, जिससे वह बचना चाहता है, और जिससे बचने के लिए, वह सामान्य संबंधों को नवीनीकृत और पुनर्स्थापित करने की इच्छा से अपने देवता के पास जाता है। यह विचार कि यदि बुद्धिमान प्राणी कोई कार्य प्रथागत रूप से करते हैं, तो उन्हें ऐसा इसलिए करना चाहिए क्योंकि एक बार उन्होंने ऐसा करने के लिए कोई अनुबंध, समझौता या वाचा कर ली थी, प्लेटो के समय में एक सामाजिक समझौते के सिद्धांत के रूप में प्रकट हुआ, जो नैतिकता के अस्तित्व को स्पष्ट करता है, और जिसे जापान में दसवीं शताब्दी ईस्वी में इस तथ्य

के स्पष्टीकरण के रूप में दर्ज किया गया था कि देवताओं को कुछ बलिदान चढ़ाए जाते थे। इस प्रकार 'देवताओं के मार्ग' के चौथे अनुष्ठान में - जो कि शिंटो है - यह समझाया गया है कि तूफान की आत्माओं ने जापानियों को अपना मान लिया, और जापान के लोगों ने तूफान की आत्माओं को अपना मान लिया

[93]

उनके देवता बनने के लिए। उस वाचा के अनुसरण में, आत्माओं ने अपनी ओर से पवनों के देवता बनने और फसल को पकाने और आशीर्वाद देने का बीड़ा उठाया, जबकि लोगों ने अपनी ओर से अपने नए देवताओं के लिए एक मंदिर बनाने का बीड़ा उठाया; और इसीलिए लोग अब उनकी पूजा कर रहे हैं। चौथे अनुष्ठान में दिए गए विवरण के अनुसार, देवताओं ने स्वयं ही वे शर्तें तय कीं जिन पर वे जापानियों को अपनी प्रजा बनाने को तैयार थे, और वाचा की शर्तें तय कीं। इसी प्रकार निर्गमन के छठे अध्याय में दिए गए विवरण में भी, स्वयं यहोवा ने मूसा को उस वाचा की शर्तें बताईं जो वह इस्राएलियों के साथ करने को तैयार था: 'मैं तुम्हें अपनी प्रजा के रूप में स्वीकार करूँगा, और मैं तुम्हारा परमेश्वर बनूँगा।' जापान में, महायाजक के रूप में, सम्राट को वाचा की शर्तें बताई जाती थीं, जिसके परिणामस्वरूप मंदिर का निर्माण हुआ और पूजा की शुरुआत हुई।

विचारधारा बिल्कुल स्पष्ट और तार्किक रूप से सुसंगत है। यदि पवन देवताओं पर भरोसा किया जा सकता था—जैसा कि उन पर निस्संदेह भरोसा किया जाता था—तो इसका कारण यह होगा कि उन्होंने लोगों के साथ एक वाचा बाँधी थी, और यदि लोग ऐसा करते, तो वे उसके प्रति वफ़ादार होते। चौथे अनुष्ठान में, स्पष्ट और सुबोध शब्दों में, यह प्रत्यक्ष कथन कि इस प्रकार की वाचा वास्तव में की गई थी, बलिदान चढ़ाने के विचार और उसके कृत्य में निहित अर्थ का एक कथन मात्र था। और बलिदान निश्चित रूप से

[94]

दसवीं शताब्दी से बहुत पहले जापान में ये बलियाँ चढ़ाई जाती थीं: ये फसल के देवताओं को प्रतिवर्ष चढ़ाई जाती थीं, और बहुत समय से चढ़ाई जाती रही हैं। संभवतः इन्हें पवनों के देवताओं को चढ़ाए जाने से बहुत पहले तूफ़ानों के देवताओं को चढ़ाया जाता था; और चौथे अनुष्ठान में वर्णित प्रक्रिया, उन सामयिक और अनियमित बलियों के परिवर्तन का वर्णन करती है जो पवनों को तब दी जाती थीं जब वे फसल को नुकसान पहुँचाने का खतरा पैदा करती थीं, वार्षिक बलियों में, जो स्वाभाविक रूप से हर साल चढ़ाई जाती थीं। इस प्रकार, हमारे पास एक उदाहरण है कि कैसे पुराने बलि, जो मूल रूप से केवल आपदा के समय ही चढ़ाए जाते थे, अब हाल के बलियों में समाहित हो गए हैं, जो अपनी प्रकृति और उत्पत्ति के कारण, हर साल नियमित रूप से चढ़ाए जाते हैं। मनुष्य में न केवल उन चीज़ों को आत्मसात करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है जिन्हें आत्मसात किया जा सकता है और जिन्हें एक नियम के अंतर्गत लाया जा सकता है; बल्कि यह भी उचित है कि विपत्ति का इंतज़ार करने और उसके घटित होने पर कुछ करने के बजाय उसे टाल दिया जाए। इसलिए इस दृष्टिकोण से उन देवताओं की नियमित पूजा करना वांछनीय होगा जो विपत्ति भेज सकते हैं; और इस प्रकार उन्हें इसे भेजने से रोकने के लिए प्रेरित किया जा सके।

चौथे शिंटो अनुष्ठान में पवन देवताओं को अनुबंध आरंभ करने और उसकी शर्तें निर्धारित करने वाले के रूप में दर्शाया गया है। लेकिन पहले अनुष्ठान में, जो फसल के देवताओं की पूजा से संबंधित है, समुदाय को इस रूप में दर्शाया गया है:

[95]

पहला कदम उठाते हुए, और यह वचन देते हुए कि यदि देवता प्रचुर मात्रा में फसल प्रदान करते हैं, तो लोग अपने महायाजक, सम्राट के माध्यम से, फसल के देवताओं को प्रथम फल के रूप में धन्यवाद-बलि चढ़ाएँगे। यह,

निस्संदेह, फसल के देवताओं की पूजा किस प्रकार की जाने लगी, इसका ऐतिहासिक विवरण नहीं है, जैसा कि चौथे शिंटो अनुष्ठान में पवन के देवताओं की पूजा किस प्रकार की जाने लगी, इसका विवरण है। दोनों ही मामलों में पूजा विद्यमान थी, और बलि प्रथा के रूप में, उस प्रथा की उत्पत्ति की व्याख्या करने की आवश्यकता महसूस होने से बहुत पहले से दी जाती रही थी। जैसे ही आवश्यकता महसूस हुई, स्पष्टीकरण दिया गया: यदि समुदाय ने ये बलि, मनुष्य की स्मृति में जितनी भी पुरानी हो सकती है, दी थी, और यदि देवताओं ने इसके परिणामस्वरूप अच्छी फसल प्रदान की थी, तो यह दोनों पक्षों द्वारा किए गए किसी समझौते का परिणाम रहा होगा; और इसलिए, किसी पूर्व अवसर पर उनके बीच एक वाचा स्थापित हुई थी, जो शीघ्र ही ऐतिहासिक बन गई।

बलिदान की उत्पत्ति और अर्थ का यह इतिहास बलिदान के दान-सिद्धांत से स्पष्ट रूप से जुड़ा हुआ है। दान-सिद्धांत और वाचा-सिद्धांत, दोनों में, लेन-देन की शर्तें यह हैं कि इतनी सेवा के बदले इतना आशीर्वाद मिलेगा, या इतने आशीर्वाद के बदले इतना बलिदान मिलेगा। दृष्टिकोण व्यावसायिक है; दायित्व कानूनी है; यदि शर्तों का एक ओर से कड़ाई से पालन किया जाए, तो वे

[96]

दूसरे पर सख्ती से बाध्यकारी। वाचा-सिद्धांत, उपहार-सिद्धांत की तरह, अंततः आध्यात्मिक अनुभव द्वारा, यदि काफ़ी दूर तक धकेला जाए, तो ईश्वर और मनुष्य के बीच विद्यमान संबंधों की एक गलत व्याख्या के रूप में सामने आता है। एक व्याख्या होने के नाते, यह चिंतन का परिणाम है—इस तथ्य पर चिंतन का कि संकट के समय मनुष्य अपने देवताओं की ओर मुड़ता है, और उनकी ओर लौटकर वह अपने संकट से बच जाता है। इसी तथ्य पर सभी उपासना पद्धतियाँ आधारित हैं, इसी तथ्य से सभी उपासना पद्धतियाँ आरंभ होती हैं। यदि, जैसा कि होता है, वे अलग-अलग दिशाओं में शुरू होती हैं और एक-दूसरे से अलग हो जाती हैं, तो ऐसा इसलिए होता है क्योंकि मनुष्य, उस तथ्य पर चिंतन करने की प्रक्रिया में, उसकी अलग-अलग व्याख्याएँ करने लगते हैं। और जहाँ तक उन्हें अंततः यह महसूस होता है कि कोई भी व्याख्या एक गलत व्याख्या है, वे ऐसा इसलिए करते हैं क्योंकि उन्हें पता चलता है कि यह, जैसा कि उन्हें विश्वास करना सिखाया गया था, एक सही व्याख्या नहीं है, बल्कि तथ्य की एक गलत व्याख्या है: ईश्वर की ओर लौटने के अनुभव में, कुछ ऐसा पाया जाता है जिसके साथ गलत व्याख्या असंगत है; और, जब यह भ्रांति वाष्प की तरह बिखर जाती है, तो ईश्वर का दर्शन, ईश्वर का विचार, और भी अधिक प्रज्वलित होकर चमक उठता है। ऐसी ही एक भ्रांति यह प्रतिबिम्बित करती है कि देवताओं की कृपा दान से खरीदी जा सकती है। दूसरी यह प्रतिबिम्बित करती है कि देवता अपने और मनुष्य के बीच हुए एक समझौते की शर्तों पर अपनी कृपा बेचते हैं। एक और यह कि जो अर्पित किया जाता है वह पवित्र होता है,

[97]

और जो पवित्र है वह दिव्य है - अर्थात ईश्वर स्वयं वह भेंट है जो उसे चढ़ाई जाती है।

सभी उपासना पद्धतियों में मनुष्य न केवल अपने देवताओं की ओर मुड़ता है, बल्कि इस विश्वास के साथ ऐसा करता है कि वह उनके पास लौट रहा है, या लौटने का प्रयास कर रहा है—उनके पास लौटने का प्रयास कर रहा है, क्योंकि वे उससे दूर हो चुके हैं, और इसलिए उन तक पहुँचना कठिन है। तदनुसार, वह उनके निकट जाता है, अपने हाथों में कुछ ऐसा लेकर जो उनके पास लौटने की उसकी इच्छा को व्यक्त करता है। उसकी इच्छा का भौतिक, बाह्य प्रतीक—वह आहुति, भेंट या बलिदान जिसे वह अपने साथ लाता है क्योंकि यह उसकी इच्छा को व्यक्त करता है—वही है जिस पर सबसे पहले उसका ध्यान केंद्रित होता है। और चूँकि उसका ध्यान इसी पर केंद्रित होता है, इसलिए बलिदान का अनुष्ठान, बाह्य अनुष्ठान, पहले से वर्णित तरीकों से विकसित होता है। अनुष्ठान का उद्देश्य देवता तक पहुँच प्राप्त करना है; और जितना अधिक ध्यान बाह्य कर्मों और बाह्य अनुष्ठानों को करने के सही तरीके पर केंद्रित होता है, उतना ही कम ध्यान उस आंतरिक उद्देश्य पर दिया जाता है जो बाह्य कर्मों के साथ

जुड़ा होता है, और जिसके लिए वे बाह्य कर्म किए जाते हैं। चूँकि इस अनुष्ठान का उद्देश्य प्रवेश प्राप्त करना है, इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि अनुष्ठान के उचित निष्पादन से वांछित प्रवेश सुनिश्चित होगा। प्रवेश की मांग का कारण यह विश्वास है—जो समुदाय पर विपत्ति आने पर उत्पन्न होता है—कि देवता विमुख हो गए हैं, और यह विश्वास कि वह

[98]

फिर भी वह अपने उपासकों के साथ मेल-मिलाप कर सकता है। समुदाय पर विपत्तियों के रूप में उसका प्रकोप इसलिए होता है क्योंकि समुदाय ने, अपने किसी सदस्य के रूप में, किसी न किसी रूप में समुदाय की रीति-रिवाजों को तोड़कर, ईश्वर को नाराज़ किया है। इसी कारण—इस विश्वास और आस्था में—बलिदान अनुष्ठान के माध्यम से प्रवेश की कोशिश की जाती है; और अनुष्ठान का उद्देश्य उन अनुष्ठानों के प्रदर्शन द्वारा पूरा माना जाता है जिनमें बाह्य अनुष्ठान शामिल है। बाह्य अनुष्ठानों का अर्थ और मूल्य मेल-मिलाप की इच्छा में निहित है जो किए गए कार्यों में स्वयं को अभिव्यक्त करता है; और केवल कर्मों का प्रदर्शन ही उस इच्छा को शांत कर देता है। यही कारण है कि बलिदान के वाचा-सिद्धांत को स्वीकृति मिलती है: यह दर्शाता है—यह एक आधिकारिक प्रतिनिधित्व है—कि समझौते की शर्तों के अनुसार, मेल-मिलाप प्राप्त करने और प्रायश्चित करने के लिए बलिदान अनुष्ठान का प्रदर्शन ही पर्याप्त है। लेकिन यह चित्रण मिथ्या चित्रण पाया जाता है: मेल-मिलाप और प्रायश्चित की इच्छा बाहरी अनुष्ठानों से नहीं, बल्कि सुनने और आज्ञाकारिता से पूरी होनी चाहिए। 'आज्ञा मानना बलिदान से और ध्यान देना मेढ़ों की चर्बी से बेहतर है।' बलिदान एक बाहरी अनुष्ठान ही रहता है, लेकिन इसका मूल्य केवल तभी तक माना जाता है जब तक यह आज्ञाकारिता की भावना की अभिव्यक्ति हो। आहुति तब तक व्यर्थ है जब तक कि उसे चढ़ाने वाले का हृदय परिवर्तन न हो, जब तक कि

[99]

एक आंतरिक, आध्यात्मिक प्रक्रिया, जिसकी अभिव्यक्ति बाह्य अनुष्ठान है। यद्यपि यह बलि-अनुष्ठान के अर्थ की एक ऐसी व्याख्या थी जो वाचा-सिद्धांत के साथ असंगत थी और अंततः उसके लिए घातक सिद्ध हुई, यह एक साथ ही अनुष्ठान के मूल उद्देश्य की ओर वापसी और उसके अर्थ का प्रकटीकरण था। ऐसी ही कोई आंतरिक, आध्यात्मिक प्रक्रिया बलिदान से आरंभ से ही निहित होती है, क्योंकि यह मान लेना सर्वथा असंभव है कि आरंभ में यह केवल बाह्य क्रियाओं से बना था जिनका उन्हें करने वालों के लिए कोई अर्थ नहीं था; और यह भी कहना उतना ही असंभव है कि उनका जो अर्थ था वह धार्मिक अर्थ नहीं था। धर्म का इतिहास उस प्रक्रिया का इतिहास है जिसके द्वारा उस अर्थ का आशय स्पष्ट चेतना की सतह पर उभरता है और धीरे-धीरे प्रकट होता है। अनुष्ठान और बाह्य अनुष्ठान के नीचे हमेशा एक नैतिक और धार्मिक प्रक्रिया रही है—नैतिक इसलिए क्योंकि यह सह-उपासकों का समुदाय ही था जो उस जनजाति की प्रथा, अर्थात् प्रचलित नैतिकता के उल्लंघन के अवसरों पर बलिदान चढ़ाता था; धार्मिक इसलिए क्योंकि वे इसे अपने ईश्वर को अर्पित करते थे। समुदाय द्वारा इसे अर्पित करने का मूल उद्देश्य अपने किसी सदस्य द्वारा किए गए अपराध से स्वयं को शुद्ध करना था। बलिदान चढ़ाने की पूर्व शर्त, जिसके आधार पर ही बलिदान चढ़ाया जा सकता था, वह यह थी कि अपराध का पश्चाताप किया जाए। आरंभ से ही बलिदान

[100]

इसमें पश्चाताप निहित था और इसके बिना यह असंभव था। लेकिन अगर समुदाय पश्चाताप करे और अपराधी को दंडित करे तो यह पर्याप्त था: हालाँकि उसका पश्चाताप आवश्यक नहीं था—बस उसे दंडित करना आवश्यक था।

इस्राएल के भविष्यवक्ताओं द्वारा बलिदान-संस्कार की पुनर्व्याख्या यह थी कि जब तक सुनने और आज्ञाकारिता

न हो, तब तक अनुष्ठान के बाहरी प्रदर्शन के अलावा कुछ नहीं हो सकता। मसीह द्वारा किया गया रहस्योद्घाटन यह था कि प्रत्येक व्यक्ति आराधना के सर्वोच्च कार्य में भाग ले सकता है, यदि वह पहले अपने भाई के साथ मेल-मिलाप कर ले, यदि उसने पहले अपने अपराधों का पश्चाताप किया हो, परमेश्वर और अपने साथी-मनुष्य के प्रति प्रेम से। पुरानी वाचा ने परमेश्वर की कृपा को बलिदान की प्राप्ति पर सशर्त बनाया था। नई वाचा परमेश्वर के अपने बच्चों के प्रति प्रेम से उस सीमा को, और अन्य सभी सीमाओं को हटा देती है: यह असीम प्रेम है। यह सशर्त या सीमित नहीं है; मनुष्य के परमेश्वर से प्रेम करने पर सशर्त है, या उन लोगों तक सीमित है जो उससे प्रेम करते हैं। अन्यथा नई वाचा पुरानी वाचा के समान ही प्रकृति की होगी। लेकिन प्रेम प्रेम की माँग करता है; महान प्रेम महान प्रेम के लिए; महानतम मनुष्य के लिए असीम प्रेम सक्षम है। और मनुष्य के लिए प्रेम का विरोध करना कठिन है; अंत में यह असंभव ज़रूर है: सभी लोग नई वाचा के अधीन और उसमें आते हैं, जिसमें एक ओर असीम प्रेम है, और दूसरी ओर असीम रूप से बढ़ने वाला प्रेम। हालाँकि, अगर इसे बढ़ना है, तो इसे एक नए जीवन में ही बढ़ना होगा: एक ऐसा जीवन

[101]

बलिदान का, एक ऐसा जीवन जिसमें जो व्यक्ति नई वाचा के अधीन आता है वह स्वयं ही भेंट और 'जीवंत बलिदान' है।

ईश्वर के बारे में उपासक का विचार अनिवार्य रूप से उस भावना को निर्धारित करता है जिससे वह आराधना करता है। प्रेम के ईश्वर के रूप में ईश्वर का विचार, न्याय के ईश्वर के रूप में ईश्वर के विचार से भिन्न है, जो न्यायपूर्वक सुनने और आज्ञाकारिता की अपेक्षा करता है। आज्ञाकारिता की माँग करने वाले और व्यर्थ की भेंटों से विचलित न होने वाले ईश्वर का विचार, उस ईश्वर के विचार से भिन्न है जिसे, एक वाचा की शर्तों के अनुसार, प्राप्त लाभों के बदले में भेंट चढ़ाई जाती है। लेकिन इनमें से प्रत्येक और सभी विचार व्यक्तिगत चेतना में, और सामान्य चेतना में, ईश्वर के निकट आने की इच्छा और निकट आने की आवश्यकता के अस्तित्व को दर्शाते हैं। जहाँ कहीं भी वह आवश्यकता और वह इच्छा महसूस की जाती है, वहाँ धर्म है; और आवश्यकता और इच्छा मानवजाति की सामान्य चेतना का हिस्सा हैं। प्रारंभ से ही उन्होंने स्वयं को बाहरी कार्यों या अनुष्ठानों में व्यक्त या प्रतीकात्मक रूप दिया है। मानव जाति का अनुभव इस बात का प्रमाण है कि अनुष्ठान अनिवार्य हैं, उसी प्रकार और उसी कारण से जिस प्रकार भाषा विचार के लिए अपरिहार्य है। यदि वाणी न होती, जिसके द्वारा विचार को विचारों पर प्रखर किया जा सकता, तो विचार का विकास नहीं होता। और न ही धर्म कभी, कहीं भी, बिना कर्मकांडों के विकसित हुआ है। वे, भाषा की तरह, सामूहिक रूप से समुदाय का कार्य हैं; और वे एक प्रकार की

[102]

अभिव्यक्ति जो भाषा की तरह समुदाय के लिए बोधगम्य हो, क्योंकि समुदाय स्वयं को इसी प्रकार अभिव्यक्त करता है, और क्योंकि समुदाय का प्रत्येक सदस्य पाता है कि अन्य सदस्यों के भी उसके जैसे विचार हैं, और उस सत्ता के निकट जाने की वही इच्छा है जिसके अस्तित्व पर उन्हें संदेह नहीं है, चाहे वे उसे कितनी भी अस्पष्टता से समझें, या चाहे वे उसके अस्तित्व की कितनी भी विरोधाभासी व्याख्या करें। लेकिन, यदि भाषा विचार के लिए अपरिहार्य है, और एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा हम एक-दूसरे के विचारों के प्रति सचेत होते हैं, तो भाषा विचार नहीं है। न ही कर्मकांड और बाह्य कृत्य धर्म हैं—भले ही वे इसके लिए अपरिहार्य हों। वे इसकी अभिव्यक्ति हैं। वे एक अपर्याप्त अभिव्यक्ति ही होंगी; और उनकी हमेशा गलत व्याख्या की जा सकती है, यहाँ तक कि उन्हें करने वालों में से कुछ लोगों द्वारा भी। धर्म के इतिहास में यज्ञ-अनुष्ठान की गलत व्याख्याओं का अभिलेख है। लेकिन इसमें उन गलत व्याख्याओं के क्रमिक सुधार और उस प्रक्रिया का भी अभिलेख है जिसके द्वारा आरंभ से ही अनुष्ठान में निहित अर्थ अंत में प्रकट हुआ है।

समुदाय के देवता के निकट जाने की आवश्यकता और इच्छा प्राचीन काल से ही तब महसूस की जाती रही है जब समुदाय पर कोई विपत्ति आती है। इस विपत्ति को देवता द्वारा भेजा हुआ माना जाता है; और यह माना जाता है कि देवता समुदाय के किसी सदस्य द्वारा किए गए किसी अपराध के कारण क्रोधित हुए हैं। इसलिए, हम कह सकते हैं कि

[103]

आरंभ से ही सामान्य चेतना में पाप की भावना और प्रायश्चित करने की इच्छा विद्यमान रही है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वर्तमान समय में, व्यक्ति के मामले में, व्यक्तिगत धर्म सर्वप्रथम पाप की चेतना में ही प्रकट होता है। और जो व्यक्ति के मनोविज्ञान में सत्य है, उसकी सीमा के भीतर सामान्य चेतना के मनोविज्ञान में भी सत्य होने की अपेक्षा की जा सकती है। यद्यपि हम कह सकते हैं कि आरंभ में, सार्वजनिक विपत्ति की घटना से ही समुदाय को यह ज्ञात हुआ कि पाप किया गया है, फिर भी यह कहना भी सत्य है कि समुदाय को लगा कि अपराध समुदाय द्वारा नहीं, बल्कि उसके किसी सदस्य द्वारा किया गया है, जिसके लिए समुदाय उत्तरदायी है। सामान्य चेतना में अपराध नहीं, बल्कि उत्तरदायित्व प्रमुख था - जैसा कि व्यक्ति के मामले में भी होता है। परंतु यह तथ्य कि अपराध समुदाय द्वारा नहीं, बल्कि समुदाय के किसी एक सदस्य द्वारा किया गया था, निस्संदेह समुदाय को वह विश्वास प्रदान करने में सहायक रहा, जिसके बिना अपमानित शक्ति के प्रति उसका दृष्टिकोण केवल भय का होता। यदि भय की भावना शुद्ध और अमिश्रित होती, तो समुदाय की गति आहत प्राणी की ओर नहीं हो सकती थी। परन्तु धर्म प्रारम्भ से ही स्वयं को प्रकट करता है।

[104]

ईश्वर के निकट जाने की क्रिया। यह तथ्य कि अपराध किसी एक सदस्य का कर्म था, न कि समग्र समुदाय का, निस्संदेह समुदाय को वह विश्वास दिलाने में सहायक रहा, जिसके बिना आहत शक्ति के प्रति उसका रवैया केवल भय का होता। लेकिन इसने धर्म को व्यक्तिगत आवश्यकता के बजाय समुदाय का मामला बनाने की ओर भी अग्रसर किया: पाप अवश्य हुआ था, लेकिन उन लोगों द्वारा नहीं जो प्रायश्चित करने के उद्देश्य से ईश्वर के निकट गए थे। वे अपराधी नहीं थे। समुदाय ने अपनी ज़िम्मेदारी स्वीकार की, लेकिन उसने अपने एक सदस्य को दोषी पाया।

इसलिए, हम निष्पक्ष रूप से कह सकते हैं कि इस समय तक व्यक्तिगत धर्म का उदय शायद ही शुरू हुआ था। और ऐसा क्यों था, इसका कारण बिल्कुल स्पष्ट है: वह यह है कि मानव जाति की शैशवावस्था में, व्यक्ति की शैशवावस्था की तरह, व्यक्तिगत आत्म-चेतना अभी अविकसित होती है। और केवल व्यक्तिगत आत्म-चेतना के विकास के साथ ही व्यक्तिगत धर्म संभव होता है। हालाँकि, इससे हमें यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि व्यक्तिगत धर्म आत्म-चेतना के विकास का एक आवश्यक, या कम से कम, एक तात्कालिक परिणाम है। प्राचीन ग्रीस में व्यक्ति की स्वयं के प्रति चेतना की एक अभिव्यक्ति—और धार्मिक क्षेत्र में पहली अभिव्यक्ति—'रहस्यों' का विकास थी। व्यक्ति स्वेच्छा से इन संघों में प्रवेश करते थे: वे उनमें जन्म से नहीं थे

[105]

राज्य और राज्य-पूजा में थे। और उन्होंने व्यक्तिगत शुद्धि और व्यक्तिगत अमरता की आशा के लिए उनमें प्रवेश किया। मोक्ष की, व्यक्तिगत मोक्ष की इच्छा प्रकट होती है। लेकिन रहस्यवादियों ने कर्मकांडों और समारोहों पर ही भरोसा किया, और इस तथ्य पर कि उन्हें दीक्षा दी गई थी, उन्हें अपना विश्वास मिला—जब तक वे इसे बनाए रख सके। कर्मकांडों की प्रभावकारिता के बारे में पारंपरिक विश्वास अडिग था: और, जब तक लोग कर्मकांडों की प्रभावकारिता में विश्वास करते रहे, तब तक इस प्रश्न का, 'मैं मुक्ति पाने के लिए क्या करूँ?' कोई स्थायी रूप से

संतोषजनक उत्तर नहीं था। धर्म की व्यक्तिगत आवश्यकता के लिए स्थायी रूप से संतोषजनक एकमात्र उत्तर वह है जो कर्मकांडों और समारोहों से परे है: वह यह है कि मनुष्य अपने पड़ोसी और अपने ईश्वर से प्रेम करे।

लेकिन इस प्रकार व्यक्तिगत होते हुए, धर्म ने मनुष्य के साथ-साथ उसके साथियों को भी उतना ही शामिल कर लिया जितना स्वयं को। इस प्रकार व्यक्तिगत होते हुए, धर्म, पहले से कहीं अधिक, समुदाय का अपने ईश्वर से संबंध बन गया। हालाँकि, अब यह संबंध केवल समुदाय तक सीमित नहीं रहा कि वह अपने किसी सदस्य के अपराधों को स्वीकार करे: वह 'हमारे अपराधों' की क्षमा के लिए प्रार्थना करता है; और यद्यपि वह अपने प्रत्येक सदस्य के लिए प्रार्थना करता है, फिर भी यह समुदाय ही है जो प्रार्थना करता है, आराधना करता है और अपने ईश्वर के समक्ष आता है, जैसा कि उसने धर्म के इतिहास के आरंभ से ही किया है। यह पूजा-अर्चना के अनुष्ठानों के साथ है।

[106]

धर्म के इतिहास में किसी भी काल में, समुदाय अपने ईश्वर के निकट पहुँचता है; क्योंकि उसका आंतरिक उद्देश्य किसी न किसी बाहरी अभिव्यक्ति में प्रकट होता ही है। वास्तव में, वह स्वयं को उतनी ही स्वाभाविक और आवश्यक रूप से प्रकट करना चाहता है, जितनी स्वाभाविकता और अनिवार्यता से विचार ने अपनी निर्मित भाषाओं में अभिव्यक्ति पाई है; और यद्यपि धर्म पर उपासना के रूपों की प्रतिक्रिया, कभी-कभी, भाषा की प्रतिक्रिया की तरह, भ्रामक भ्रम उत्पन्न करती है, फिर भी, अधिकांशतः, भाषा कमोबेश स्पष्ट रूप से - बल्कि हम कह सकते हैं कि अधिक से अधिक स्पष्ट रूप से - वह व्यक्त करने का काम करती है जिसे हम व्यक्त कर सकते हैं।

जैसे वाणी के एक से अधिक रूप होते हैं, वैसे ही धर्म के भी एक से अधिक रूप होते हैं; और जैसे तीन से ज़्यादा गिनती न कर सकने वाले असभ्य लोगों की भाषा उच्च गणित के लिए अपर्याप्त होती है, वैसे ही विकास की निम्न अवस्थाओं में मनुष्य का धर्म भी उच्च अवस्थाओं की तुलना में अपर्याप्त होता है। फिर भी सभ्य मनुष्य असभ्य लोगों की वाणी के रूप को समझ सकता है; और यह कहना अजीब होगा कि असभ्य लोगों की वाणी का रूप, या उनका धर्म का रूप, समझ से परे बकवास है। वाणी और धर्म की विविधताओं के पीछे मनुष्य की आत्मा में वह है जो स्वयं को अभिव्यक्त करना चाहती है और जो सभी के लिए बोधगम्य है, क्योंकि वह सभी में विद्यमान है। हालाँकि हममें से बहुत कम लोग सभ्य भाषाओं के अलावा कोई और भाषा समझते हैं, फिर भी हम

[107]

मुझे यह मानने में कोई कठिनाई नहीं है कि जंगली भाषाएँ न केवल बोधगम्य हैं, बल्कि उसी स्रोत से उत्पन्न हुई होंगी जहाँ से हमारी भाषा उत्पन्न हुई है, हालाँकि जिस भी उद्देश्य के लिए भाषा का उपयोग किया जाता है, वह उससे कहीं कमतर है। धर्म के विभिन्न रूप, ईश्वर के विचार को अभिव्यक्त करने के प्रयास हैं—जो स्वयं भाषा की तरह ही कई अलग-अलग स्तरों पर सफल होते हैं।

[108]

टीओसी

प्रार्थना में ईश्वर का विचार

यह प्रश्न शायद उठाया जा सकता है कि क्या हमें उपासना से आगे जाकर यह जानने की ज़रूरत है कि प्रारंभिक

धर्मों में ईश्वर का स्वरूप क्या था या वर्तमान में क्या है, जैसा कि वह उपासक के सामने प्रस्तुत होता है। इस प्रश्न का उत्तर आंशिक रूप से इस बात पर निर्भर करेगा कि हम धर्म का सार क्या मानते हैं। यदि हम धर्म के इतिहास के कुछ विशेषज्ञ लेखकों के इस मत को स्वीकार करें कि धर्म का सार आराधना है, तो वास्तव में हमें न तो आगे जाने की आवश्यकता है और न ही हम ऐसा कर सकते हैं, क्योंकि हम मानेंगे कि आराधना आराधना है, और आराधना, आराधना है।

आराधना को बाहर करना, यह कहना कि आराधना पूजा का कोई अंग नहीं है, या नहीं होनी चाहिए, 'आराधना' शब्द के मूल अर्थ के बिल्कुल विपरीत प्रतीत होता है और धर्म के इतिहास में दर्ज तथ्यों के एक बड़े और महत्वपूर्ण समूह के साथ भी असंगत प्रतीत होता है। किसी देवता के दरबार में प्रवेश करने की प्रथा स्तुति के साथ होती है, जो आराधना की भावना की बाहरी अभिव्यक्ति है जिसके साथ उपासक आध्यात्मिक रूप से उसकी शक्ति और

[109]

जिस देवता के पास वे जाते हैं उसकी महिमा। वह उनके लिए एक महान देवता है, अन्य सभी देवताओं से ऊपर। यहाँ तक कि बहुदेववादियों के लिए भी, जिस देवता की उस समय पूजा की जाती है, वह उस क्षण ऐसा होता है जिसके अलावा कोई नहीं है, और कुछ भी नहीं, उससे बड़ा, क्वो निहिल मायस । जिस देवता की इस प्रकार पूजा नहीं की जानी चाहिए—एक ऐसा देवता जो आराधना की वस्तु नहीं है—वह इस नाम के योग्य नहीं होगा, और उसे शायद ही देवता कहा जाएगा। यह बात इतनी दृढ़ता से महसूस की जाती है कि वे लेखक भी जो धर्म को एक भ्रम मानते हैं, देवताओं को ऐसे प्राणी के रूप में परिभाषित करते हैं जिन्हें मनुष्य से श्रेष्ठ माना जाता है। आराधना में बढ़ने वाला सम्मान, उन्हें दी गई श्रेष्ठता की मात्रा के साथ सीधे तौर पर भिन्न होगा; लेकिन एक बुत के मामले में भी, जब तक उसकी पूजा की जाती है, सम्मान, जो आराधना का बीज है, पूरी तरह से गायब नहीं होता है। यहाँ तक कि देवताओं के मामले में भी, जिनका कभी-कभी अपमान किया जाता है, ठीक उन्हीं क्षणों में, जब उनकी श्रेष्ठता पर संदेह होता है, आराधना की कमी महसूस होती है। आराधना के बिना आराधना केवल नाम की आराधना है, या यूँ कहें कि कोई आराधना ही नहीं है। केवल आराधना से ही आराधना शुरू हो सकती है: 'तेरा नाम पवित्र हो' उस भावना को व्यक्त करता है जिससे सभी आराधनाएँ शुरू होती हैं, यहाँ तक कि जहाँ भावना को अभी तक खुद को व्यक्त करने के लिए शब्द नहीं मिले हैं। क्योंकि भावना वहाँ मौजूद है, दबी हुई है और पलायन की तलाश में है, इसलिए वह शब्दों के साथ यात्रा कर सकती है, और उन्हें अक्षरों और ध्वनियों के क्रम से कहीं अधिक कुछ बना सकती है।

[110]

यदि आत्मा ने आराधना के पंखों पर सवार होकर अपने ईश्वर को खोजने के लिए स्वर्ग की ओर उठने का सदैव प्रयास किया है, भले ही वह थोड़ी सी ऊँचाई तक फड़फड़ाकर शीघ्र ही पुनः धरती पर गिर पड़े, तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि धर्म में आरंभ से ही एक रहस्यवादी तत्व, या रहस्यवाद की प्रवृत्ति रही है। धर्म के विकास के निम्नतम, और संभवतः आरंभिक, चरणों में, यह प्रवृत्ति समुदाय के व्यक्तिगत सदस्यों में सबसे अधिक प्रकट होती है, जो 'आवेग', परमानंद, समाधि और दर्शन के अधीन होते हैं, और स्वयं तथा अन्य लोग, यह मानते हैं कि वे अपने ईश्वर के साथ विशेष रूप से एकाकार हैं। यह इस तथ्य की प्रारंभिक अभिव्यक्ति है कि धर्म, एक सामाजिक कार्य और समुदाय से संबंधित विषय होने के अलावा, एक ऐसा विषय भी है जो व्यक्तिगत आत्मा को गहराई से प्रभावित कर सकता है। लेकिन इन मामलों में केवल असाधारण आत्मा ही प्रभावित होती है - दर्शनों का द्रष्टा, भविष्यवक्ता। और यह ज़रूरी नहीं कि देवताओं के साथ रहस्यमय संवाद के ऐसे उदाहरण सामान्य पूजा या पारंपरिक बलिदान के संबंध में ही प्रकट हों। पूजा और बलिदान की रहस्यमय प्रवृत्ति के विकास के लिए, हमें धार्मिक विकास के निम्नतम या प्रारंभिक चरणों की ओर नहीं, बल्कि बलि-भोजन के विकास के एक बाद के चरण की ओर देखना चाहिए। यह वह जगह है जहाँ, प्राचीन मेक्सिको की तरह, बलि-भोजन तैयार करने वाले पौधे या

जानवर को किसी न किसी रूप में माना जाता है,

[111]

या पूजे जाने वाले देवता के शरीर के साथ पहचान की जाती है, कि बलिदान का अनुष्ठान रहस्यवाद से भरा होता है और भोजन में भाग लेने वाले सभी लोग, न कि कुछ अपवादस्वरूप व्यक्ति, उस देवता के साथ किसी रहस्यवादी संवाद में लाए जाते हैं जिसकी वे पूजा करते हैं।

इन मामलों में, आराधना ही पूजा है; और पूजा ही आराधना है—और कुछ नहीं। उनके फल के आधार पर, हम यह नहीं कह सकते कि मैक्सिकन रीति-रिवाज़, या यहाँ तक कि ग्रीक रहस्य भी, हमें यह मानने के लिए प्रोत्साहित करते हैं कि आराधना ही वह सब है जो मानव हृदय की कल्पना के अनुसार पूजा को बनाने के लिए आवश्यक है। निस्संदेह, इसका एक कारण यह भी है कि मेक्सिको और ग्रीस के बहुदेववादियों को ईश्वर का विचार इतनी अपूर्णता से प्रकट किया गया था। इसलिए आइए हम ग्रीस और मैक्सिको को रहस्यवाद की अवहेलना या सर्वोच्च के साथ एकता की तलाश करने की मनुष्य की प्रवृत्ति के अवमूल्यन के उदाहरण के रूप में उपयोग न करें। बल्कि हम उस तर्क का सहारा लें जो रहस्यवाद को, अपने आप में, मनुष्य की सभी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपर्याप्त बनाता है। कारण केवल इतना है कि मनुष्य केवल चिंतनशील नहीं, बल्कि एक सक्रिय प्राणी है। यदि कर्म उसके स्वभाव से अलग होता, तो मनुष्य ईश्वर को निहारने, और केवल निहारने से ही संतुष्ट हो सकता था। लेकिन मनुष्य सक्रिय है, केवल चिंतनशील नहीं। इसलिए हमें या तो यह मानना होगा कि धर्म, जो अपने मूल में आराधना है और कुछ नहीं, व्यावहारिक जीवन में कोई कार्य नहीं करता, या कोई क्षेत्र नहीं भरता।

[112]

मनुष्य के जीवन को प्रभावित करता है; या फिर, यदि हम मानते हैं कि यह उसके जीवन के व्यवहार को प्रभावित करता है, या करना चाहिए, तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि यद्यपि धर्म सदैव आराधना को ही दर्शाता है, फिर भी यह शांतिवाद में पूरी तरह से पूर्ण नहीं हो सकता, बल्कि मनुष्य जो करता है, या जिस प्रकार से करता है, उसमें इसका फल अवश्य ही प्राप्त होता है। मनुष्य जिस प्राणी या प्राणियों की पूजा करता है, वे वास्तव में आराधना के पात्र हैं, एक वस्तु quo nihil maius ; लेकिन वे इससे कहीं अधिक हैं। मनुष्य की प्रार्थनाएँ उन्हीं को संबोधित हैं।

यह मानना व्यर्थ है कि प्रार्थना, यहाँ तक कि हमारी रोज़ी-रोटी के लिए की जाने वाली साधारण प्रार्थना भी, धार्मिक नहीं है। शायद यह तर्क दिया जा सकता है कि प्रार्थना धर्म के लिए आवश्यक नहीं है; यह हमेशा से धर्म का अंग नहीं रही है; और यह ईश्वर की इच्छा में उस स्वीकृति और ईश्वर की उस पूर्ण आराधना के साथ असंगत है, जो अपने शुद्धतम और सबसे उत्तम अर्थों में धर्म है। क्या वास्तव में बुराई से मुक्ति की प्रार्थना और पृथ्वी पर ईश्वर की इच्छा पूरी हो, इस आकांक्षा के बीच कोई असंगति है, यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर हमें यहाँ विचार करने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन यह कथन कि प्रार्थना हमेशा से धर्म का अंग नहीं रही है, एक ऐसा कथन है जिसे तथ्य की कसौटी पर कसना संभव होना चाहिए।

धर्म विज्ञान के साहित्य में, मानवजाति की निम्न जातियों की प्रार्थनाओं का उन लोगों द्वारा पर्याप्त रूप से उल्लेख नहीं किया गया है जिन्हें उनसे परिचित होने का सर्वोत्तम अवसर मिला है, यदि और जहाँ तक वे वास्तव में विद्यमान हैं। यह

[113]

संभवतः आंशिक रूप से इसलिए क्योंकि वे इतने स्पष्ट और इतने तुच्छ प्रतीत होते हैं कि उन्हें रिकॉर्ड में दर्ज करने

लायक नहीं माना जा सकता। संभवतः कुछ मामलों में यह उस चुप्पी के कारण हो सकता है जो जंगली लोग श्वेत व्यक्ति के प्रति रखते हैं, उन मामलों पर जो प्रकट करने के लिए बहुत पवित्र हैं। चूक की यह गलती, जहाँ तक आगे से सुधारी जा सकती है, संभवतः अब सुधार ली जाएगी, क्योंकि अब वैज्ञानिक छात्रों द्वारा विज्ञान के हित में जंगली मान्यताओं की जाँच और रिकॉर्डिंग की जा रही है। और जंगली लोगों की यह चुप्पी उनके लिए बहुत कम लाभकारी होने की उम्मीद करती है: तुलनात्मक पद्धति ने उनके सबसे पवित्र रहस्यों पर प्रकाश डाला है।

हालाँकि, निम्न जातियों की प्रार्थनाओं का पर्याप्त रूप से अभिलेखन न होने का एक और कारण भी हो सकता है: हो सकता है कि उन्हें इस साधारण कारण से अभिलेखित न किया गया हो कि उनका उच्चारण नहीं किया गया हो। जिस अनुष्ठान के माध्यम से देवता से प्रार्थना की जाती है, उसकी प्रकृति और अवसर ऐसे हो सकते हैं कि शब्दों का प्रयोग अनावश्यक हो जाए: अनुष्ठान का उद्देश्य किए गए कार्यों में पर्याप्त रूप से अभिव्यक्त हो सकता है, और उसे स्पष्ट करने के लिए शब्दों की आवश्यकता नहीं हो सकती है। यदि कोई समुदाय घोर संकट के समय अपने देवता के पास बलिदान या भेंट लेकर जाता है, तो वह पूर्ण विश्वास के साथ जाता है कि वह उनके आगमन की परिस्थितियों और उद्देश्य को समझता है। समर्पण के शब्द—'यह तेरे लिए' वास्तव में प्रचलित एक सूत्र है—आवश्यक हो सकते हैं, लेकिन इससे अधिक कुछ नहीं। वास्तव में, ऑस्ट्रेलियाई जनजातियाँ,

[114]

फसल-बलि के समान अनुष्ठानों में किसी भी प्रकार के मौखिक शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता। हालाँकि, हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि ये अनुष्ठान, या उनके मूल में, पूर्णतः अर्थहीन या उद्देश्यहीन थे। हमें उनकी व्याख्या अन्यत्र इसी प्रकार के अनुष्ठानों के अनुरूप करनी चाहिए, जिनका उद्देश्य ऑस्ट्रेलिया की तरह केवल हाव-भाव से ही व्यक्त नहीं होता, बल्कि मौखिक शब्दों द्वारा भी पुष्ट होता है। वास्तव में, हम शायद इससे भी आगे जा सकते हैं, और यह मान सकते हैं कि जिस प्रकार हाव-भाव वाणी से प्राचीन थे, उसी प्रकार प्रारंभिक अनुष्ठान पूर्णतः अनुष्ठानिक क्रियाओं या हाव-भावों के माध्यम से किए जाते थे; और यह केवल समय के साथ, और भाषा के विकास के परिणामस्वरूप ही था कि अनुष्ठानों को प्रेरित करने वाली भावनाओं को पूर्ण अभिव्यक्ति देने के लिए मौखिक सूत्रों का उपयोग किया जाने लगा।

यदि हमें केवल उन मामलों का हिसाब देना होता जिनमें प्रार्थना को पूजा-अनुष्ठान के एक अभिन्न अंग के रूप में दर्ज नहीं किया गया है, तो हमें यह निष्कर्ष निकालने का अधिकार नहीं होना चाहिए कि प्रार्थना वास्तव में अनुपस्थित थी। बल्कि अनुमान यह होगा कि या तो अभिलेख त्रुटिपूर्ण हैं, या प्रार्थना, भले ही मौखिक रूप से न कही गई हो, फिर भी अपनी भूमिका निभाती थी। इस अनुमान का आधार उन अवसरों की प्रकृति में पाया जाता है जिन पर धर्म के निम्न स्तरों में देवताओं से संपर्क किया जाता है। वे अवसर या तो असाधारण होते हैं या नियमित रूप से दोहराए जाते हैं। असाधारण अवसर वे होते हैं जिन पर समुदाय को संकट का सामना करना पड़ता है, या विपत्ति का सामना करना पड़ता है; और ऐसे

[115]

चाहे हमारे मुखबिरों ने प्रार्थना के मौखिक शब्द दर्ज किए हों या नहीं, इसमें कोई संदेह नहीं है कि समुदाय का उद्देश्य विपत्ति से बचना है, और जिस मनोवृत्ति से वे ईश्वर के पास जाते हैं वह प्रार्थना या याचना की होती है। नियमित रूप से दोहराए जाने वाले अवसर बीज बोने और कटनी, या प्रथम फल के समय के होते हैं। बीज बोने के समय के समारोह स्पष्ट रूप से इस अनुमान को स्वीकार करते हैं, भले ही इसे साबित करने के लिए कोई मौखिक प्रार्थना न हो, कि उनका भी एक याचनापूर्ण उद्देश्य है; जबकि कटनी के समय और प्रथम फल चढ़ाने के अवसर पर की जाने वाली प्रार्थनाओं के दर्ज उदाहरण यह दिखाने के लिए पर्याप्त हैं कि निरंतर समृद्धि के लिए प्रार्थना के साथ-साथ धन्यवाद भी दिया जाता है।

हालाँकि, केवल लिखित प्रार्थनाओं के अभाव के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि धर्म के विकास में एक ऐसा चरण था जब प्रार्थना का अभ्यास नहीं किया जाता था और यह अज्ञात थी। मंत्रों की उपस्थिति और प्रयोग से यह पता चलता है कि एक समय ऐसा भी रहा होगा जब प्रार्थना अभी तक अज्ञात थी, और विकास की प्रक्रिया मंत्र से प्रार्थना की ओर एक प्रगति थी। इस सिद्धांत के अनुसार, मंत्र, समय के साथ, और अपने विकास के नियम के अनुसार, प्रार्थना बन जाते हैं। इस नियम की प्रकृति और संचालन को अब हमारे लिए देखना कठिन या असंभव हो सकता है। यह प्रक्रिया समय की रात में हुई थी और इसलिए

[116]

हमारे अवलोकन के लिए खुला है। लेकिन वह प्रक्रिया, जिसके द्वारा एक दूसरे में बदल जाता है, एक संभावित प्रक्रिया है, शायद इस तथ्य से प्रदर्शित होती है कि हम स्वयं प्रार्थना को मंत्र में वापस लौटते या वापस लौटते हुए देख सकते हैं। जहाँ कहीं भी प्रार्थनाएँ 'व्यर्थ दोहराव' बन जाती हैं, यह स्पष्ट है कि उन्हें उसी तरह कार्य करने के लिए माना जाता है जैसे असभ्य लोग मंत्रों को कार्य करने के लिए मानते हैं: सूत्र के मात्र उच्चारण में वैसी ही जादुई शक्ति होती है, जैसी अलौकिक खतरे को टालने के लिए क्रॉस का चिन्ह बनाने में होती है। यदि प्रार्थनाएँ इस प्रकार मंत्र में वापस लौटती हैं, तो यह तर्कसंगत रूप से माना जा सकता है कि ऐसा इसलिए है क्योंकि प्रार्थना अपने मूल में मंत्र नहीं है। ऐसा इसलिए है क्योंकि ऑक्सीजन और हाइड्रोजन मिलकर पानी बनाते हैं, इसलिए पानी को ऑक्सीजन और हाइड्रोजन में बदला जा सकता है।

इस सिद्धांत की जाँच करने पर, यह संकेत मिलता है कि जादू और प्रार्थना, भिन्न और असंगत होने के बजाय, एक ही चीज़ हैं: एक दृष्टिकोण से और एक ही परिवेश में देखा जाए तो यह जादू है; दूसरे दृष्टिकोण से और दूसरे परिवेश में देखा जाए तो यह प्रार्थना है। दृष्टिकोण और परिस्थितियाँ बदल सकती हैं, लेकिन वस्तु स्वयं हमेशा एक जैसी रहती है। तो फिर वह वस्तु स्वयं क्या है, जो चाहे प्रार्थना के रूप में प्रस्तुत हो या जादू के रूप में, हमेशा एक जैसी ही रहती है? यह केवल इच्छा है और हो सकती है। जादू और प्रार्थना दोनों में समान रूप से मौजूद सामान्य, क्रियाशील तत्व इच्छा है। इच्छा जादू या प्रार्थना में उत्पन्न हो सकती है; लेकिन यदि कोई इच्छाएँ न होतीं, तो न तो प्रार्थना होती और न ही जादू।

[117]

यह हम स्वीकार कर सकते हैं। लेकिन, तब, हम और आगे जा सकते हैं, या यूँ कहें कि जाना ही चाहिए: यदि कोई इच्छा न होती, तो मनुष्य द्वारा किया जाने वाला कोई भी कार्य भी न होता। हालाँकि, मनुष्यों के कार्य एक-दूसरे से अंतहीन रूप से भिन्न होते हैं। वे आंशिक रूप से इसलिए भिन्न होते हैं क्योंकि मनुष्यों की इच्छाएँ स्वयं भिन्न होती हैं; और आंशिक रूप से इसलिए क्योंकि उन्हें संतुष्ट करने के लिए वे जिन साधनों को अपनाते हैं वे भी भिन्न होते हैं। यह कहना व्यर्थ होगा कि एक ही लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अलग-अलग साधन नहीं अपनाए जा सकते। यह कहना भी उतना ही व्यर्थ होगा कि विभिन्न साधन एक-दूसरे से असंगति के बिंदु तक भिन्न नहीं हो सकते। यदि हम प्रार्थना और मंत्र को समान साधन मानते हैं जिनका उपयोग मनुष्य ने अपनी इच्छाओं को साकार करने के उद्देश्य से किया है, तब भी हम यह मानने के लिए स्वतंत्र हैं कि प्रार्थना और मंत्र भिन्न और असंगत हैं।

यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि प्रार्थना और मंत्र में अंतर है—कम से कम इतना बड़ा कि दोनों शब्दों को एक-दूसरे के विपरीत इस्तेमाल किया जा सके। दोनों के बीच मूलभूत अंतर भी स्पष्ट है: मंत्र उस शक्ति के कारण प्रभावी होता है जो स्वयं उस सूत्र में या उसे कहने वाले में निहित होती है; जबकि प्रार्थना किसी व्यक्तिगत शक्ति से, या किसी ऐसी व्यक्तिगत शक्ति से की गई अपील होती है जो उस अपील को सुन सके, उसे समझ सके और यदि वह उचित लगे तो उसे स्वीकार कर सके। प्रार्थना और मंत्र के बीच इस अंतर को धर्म विज्ञान का कोई भी छात्र नकार नहीं

सकता। लेकिन अगर यह अंतर

[118]

यह स्वीकार किया जाना चाहिए, जैसा कि स्वीकार किया जाना चाहिए, यह स्पष्ट है कि प्रार्थना और मंत्र दो अलग-अलग मनोदशाओं या मनःस्थितियों पर लागू होते हैं। इच्छा दोनों से समान रूप से निहित है: यदि इच्छा न होती, तो न प्रार्थना होती और न ही मंत्र। लेकिन, जहाँ प्रार्थना किसी ऐसे व्यक्ति से की गई अपील है जिसके पास अपनी इच्छा पूरी करने की शक्ति है, वहीं मंत्र उस शक्ति का प्रयोग है जो व्यक्ति के पास स्वयं होती है, या जो उसके आदेश पर होती है।

यह कि दोनों मनोभाव भिन्न हैं, और एक-दूसरे के साथ असंगत हैं, यह पहली नज़र में ही स्पष्ट है: किसी चीज़ के लिए दया या उपहार के रूप में भीख माँगना, उस चीज़ को करने का आदेश देने से बिल्कुल अलग है। एक मामले में अपनाई गई मन की पूरी प्रवृत्ति दूसरी स्थिति में अपनाई गई प्रवृत्ति से भिन्न है। वास्तव में, एक प्रवृत्ति से दूसरी प्रवृत्ति में जाना संभव है। लेकिन यह कहना असंभव है कि एक प्रवृत्ति दूसरी प्रवृत्ति ही है। यह कहना सही है कि एक प्रवृत्ति दूसरी प्रवृत्ति का अनुसरण कर सकती है। लेकिन यह कहना भाषा के आधार पर गुमराह करना होगा कि एक प्रवृत्ति दूसरी प्रवृत्ति बन जाती है। एक ही व्यक्ति के लिए दो प्रवृत्तियों के बीच उतार-चढ़ाव, उनके बीच बारी-बारी से आना-जाना संभव है - संभव है, यद्यपि असंगत। बच्चा, या यहाँ तक कि वह बड़ा बच्चा, वह आदमी, लगभग एक ही साँस में भीख माँग सकता है और डाँट सकता है। जैसा कि सर्वविदित है, असभ्य व्यक्ति अपनी बुतपरस्ती के साथ भी उसी महत्वहीन तरीके से पेश आएगा। यह महत्वहीन है, यह एक तथ्य है; लेकिन यह एक ऐसा तथ्य है जिसे अगर सीखा भी जाए, तो बहुत धीरे-धीरे।

[119]

यह सीखा जाता है कि यह धर्म के विकास का हिस्सा है; और यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके दौरान ईश्वर का विचार विचार की उलझन और भावना की उलझन से खुद को अलग कर लेता है, जिसमें वह पहले घिरा हुआ होता है।

हम, वास्तव में, वर्तमान समय में, जादू और धर्म, मंत्र और प्रार्थना के बीच अंतर देख सकते हैं, या किसी भी दर पर महसूस कर सकते हैं। और हम कल्पना कर सकते हैं कि अंतर, वास्तविक होने के कारण, हमेशा देखा या महसूस किया गया है, जैसा कि हम देखते और महसूस करते हैं। लेकिन, अगर हम ऐसा सोचते हैं, तो हम गलत हैं। अंतर इतनी तीव्रता से महसूस नहीं किया गया था, या इतना स्पष्ट रूप से नहीं देखा गया था, कि मूसा को जादू का, या एलिजा को बारिश बनाने का श्रेय देना असंभव हो जाए। और भी पुराने युगों में, अंतर और भी धुंधला था। दोनों चीजों में उस तरह अंतर नहीं किया गया था जैसा कि हम अब करते हैं: उन्हें तब महसूस नहीं किया गया था, जैसा कि अब उन्हें असंगत और असंगत महसूस किया जाता है। यह दोनों के बीच की समानता थी जिसने मूल रूप से मानसिक दृष्टि के क्षेत्र को भर दिया था। चाहे कोई व्यक्ति याचिका करे या आदेश और, इस तथ्य पर अपना ध्यान केंद्रित करते हुए, वह शायद इस बात से बहुत कम अवगत हो पाता है, जैसे कि एक छोटा बच्चा, अगर होता भी है, तो इस बात से कि वह एक मनोदशा से दूसरी मनोदशा में, और फिर वापस, गुजरता है, या उसमें अनुचित असंगति का दोषी होता है। समय के साथ और मानसिक विकास के परिणामस्वरूप ही उसे दोनों मनोदशाओं के बीच के अंतर का एहसास होता है।

[120]

यदि हम इस बात पर अड़े रहते हैं कि चूँकि मंत्र और प्रार्थना मूलतः भिन्न हैं, मनुष्य सदैव इस अंतर के प्रति पूर्णतः

सचेत रहा है, तो हम धर्म के विकास की व्याख्या करना, या यह स्वीकार करना कि इसका कोई विकास हो सकता है, मूलतः असंभव बना देते हैं। जिस प्रकार, हमारे पहले अध्याय में दिए गए तर्क के अनुसार, देवताओं और बुतपरस्तों को धीरे-धीरे किसी अवधारणा से, उनसे पहले, और अनिश्चित माना गया है; जिस प्रकार जादूगर और पुजारी, जो अंततः प्रतिष्ठित हुए, मूलतः अविभाज्य थे, क्योंकि एक शक्तिशाली व्यक्ति संभावित रूप से दोनों हो सकता था और दोनों में से कोई भी बन सकता था; उसी प्रकार मंत्र और प्रार्थना को भी विभेदित किया जाने लगा है, उन्हें अलग और मूलतः विरोधी माना जाने लगा है, हालाँकि मूलतः दोनों श्रेणियों को भ्रमित किया गया था।

यह सिद्धांत कि मंत्र प्रार्थना से पहले आया और प्रार्थना बन गया, या कि जादू धर्म में विकसित हुआ, धर्म विज्ञान द्वारा प्रदान किए गए तथ्यों में उतना ही कम समर्थन पाता है, जितना कि एक आदिम रहस्योद्घाटन और एक स्वर्गीय अवस्था के विपरीत सिद्धांत को, जिसमें केवल धर्म ही ज्ञात था। क्योंकि विकास के एक चरण में जो पाया जाता है, उसकी क्षमता पहले भी मौजूद रही होगी; और यदि प्रार्थना और मंत्र, जादू और धर्म, दोनों पाए जाते हैं, तो दोनों की क्षमता पहले से मौजूद रही होगी। और किसी पूर्व-कल्पित सिद्धांत के हित में, किसी भी एक को नकारने की कोशिश करने के बजाय, हमें सत्य के हित में, दोनों संभावनाओं को पहचानना चाहिए।

जैसे मनुष्य ने अनगिनत हजारों वर्षों तक कहा,

[121]

वर्षों पहले, उन्हें उन सिद्धांतों का, जिन पर वे बोलते थे, वाणी के नियमों का या अपनी भाषा के व्याकरण का, कोई अंदाज़ा नहीं था; जिस तरह उन्होंने तर्क किया था, तर्क प्रक्रिया को चिंतन का विषय बनाने और उसे तर्क के नियमों तक सीमित करने से बहुत पहले; उसी तरह वे शुरू से ही धार्मिक थे, हालाँकि उन्हें धर्म के सिद्धांतों के बारे में उतना ही पता था जितना कि व्याकरण के सिद्धांतों या सही विचार के नियमों के बारे में। 'हर तरह के मूल सिद्धांतों का अपना प्रभाव होता है, और वास्तव में वे व्यापक और शक्तिशाली रूप से कार्य करते हैं, इससे बहुत पहले कि वे मानव विचार की सतह पर आएँ और स्पष्ट रूप से व्याख्या किए जाएँ' (फेरियर: इंस्टीट्यूट ऑफ मेटाफिजिक्स , पृष्ठ 13)।

लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि आदिम मनुष्य कभी कोई गलती किए बिना तर्क करता था, या सोचता था, या कभी कोई गलती किए बिना बोलता था, जब तक कि किसी विपत्ति के कारण उसे व्याकरणविदों और तर्कशास्त्रियों के किसी स्वर्ग से निष्कासित नहीं कर दिया गया। हालाँकि अरस्तू के समय से पहले सही तर्क तार्किक था, और डायोनिसियस थ्रैक्स के समय से पहले सही भाषण व्याकरणिक था; पहले भी, और अब भी, खराब तर्क और खराब व्याकरण दोनों की भरमार थी। लेकिन यह कहने से बहुत अलग है कि शुरुआत में, सारा तर्क गलत था, या सारा भाषण व्याकरणिक नहीं था। ऐसा कहना उतना ही अर्थहीन और बेतुका होगा जितना यह कहना कि आदिम मनुष्य का हर कार्य अनैतिक था, और उसकी आदत शुद्ध, अप्रतिबंधित दुष्टता की थी। यदि आदिम स्वर्ग की धारणा अव्यावहारिक है,

[122]

न ही आदिम नरक की धारणा काम करेगी, चाहे वह भाषा या नैतिकता के व्याकरण के विकास के लिए हो, या तर्क या धर्म के लिए, जिसका हम हिसाब लगाना चाहते हैं। यह बहुत ज़्यादा माँग करना है, हमसे यह विश्वास करने के लिए कहना कि शुरुआत में केवल अधर्म था और कोई सही नहीं, केवल त्रुटि थी और विचार या वाणी की कोई शुद्धता नहीं, केवल मंत्र और कोई प्रार्थना नहीं। और यदि दोनों हमेशा से, जैसे कि वे अब हैं, मौजूद रहे हैं, तो उसमें हमेशा से एक प्रवृत्ति भी रही होगी जो प्रबल हुई है। हम कह सकते हैं कि, विकास की प्रक्रिया में, मनुष्य उन अंतरों से अवगत होता है जिन पर पहले उसने बहुत कम ध्यान दिया था; और, जहाँ तक वह उनके प्रति सचेत होता है, वह

जो अतार्किक, अनैतिक या अधार्मिक है उसे अलग कर देता है, क्योंकि वह संतुष्ट होता है कि यह अतार्किक, अनैतिक या अधार्मिक है, और किसी अन्य कारण से नहीं।

धर्म के विकास में प्रार्थना से पहले मंत्र का प्रयोग करने का सिद्धांत, विकास की प्रक्रिया की एक भ्रांति पर आधारित है। एक समय यह मान लिया गया था और बिना किसी प्रश्न के स्वीकार कर लिया गया था कि वनस्पति और प्राणी जगत, और उनकी सभी विभिन्न प्रजातियाँ, विकास की एक ही प्रक्रिया के क्रमिक चरण हैं; और यह प्रक्रिया एक ही दिशा में और केवल एक ही दिशा में आगे बढ़ती है। जीवों के विकास के सादृश्य पर, जैसा कि इस प्रकार समझा गया, जब विकास के सिद्धांत को विचार और भावना के विभिन्न रूपों पर लागू किया गया, तो बस इतना ही बचा था कि उन्हें भी एक ही रेखा में व्यवस्थित किया जाए; और यह कि,

[123]

माना जाता है कि धर्म का विकास इसी दिशा में हुआ होगा। इस मान्यता के अनुसार, या तो जादू धर्म से पहले होना चाहिए, या धर्म जादू से पहले; और, इस सिद्धांत के अनुसार कि कम योग्य लोगों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए, यह निष्कर्ष निकला कि जादू धर्म से पहले रहा होगा।

इस बात पर शायद ही कोई विवाद हो कि वनस्पति और पशु जीवन के मामले में, जिसे विकास का क्रम माना जाता था, उसी के अनुरूप धर्म के विकास के सिद्धांत को गढ़ने के पहले प्रयास हुए, जिसके परिणामस्वरूप यह माना गया कि देवताओं का विकास बुतपरस्ती से, धर्म का जादू से और प्रार्थना का मंत्र से हुआ है। इसे गलत साबित करने के लिए, विकास के सिद्धांत को अस्वीकार करना या यह कहना आवश्यक नहीं है कि धर्म में विकास उन दिशाओं से बिल्कुल अलग है जिन पर वह अन्यत्र चलता है। बस इतना ही आवश्यक है कि जीवन के रूपों के विकास के सिद्धांत को समझा जाए, जैसा कि प्रकृतिवादियों द्वारा अब माना जाता है; और उन दिशाओं को समझना होगा जिनका अनुसरण जीवन के विकास ने किया है। विकास की प्रक्रिया अब केवल एक ही दिशा में चलने वाली नहीं मानी जाती है, या तोप से दागे गए गोले की तरह केवल एक ही प्रक्षेप पथ का वर्णन करने वाली नहीं मानी जाती है। विकास की प्रक्रिया, शुरू से ही, फैलाव वाली रही है। एम. बर्गसन की उपमा उधार लेते हुए, विकास की प्रक्रिया एक तोप के गोले की तरह नहीं है जो एक रेखा का अनुसरण करता है, बल्कि उस तरह है

[124]

एक खोल का, जो फटते ही टुकड़ों में फट गया; और ये टुकड़े, मानो स्वयं खोल ही थे, अपनी बारी में फटकर दूसरे टुकड़ों में बदल गए, और स्वयं भी फटने के लिए नियत थे, और इसी तरह पूरी प्रक्रिया के दौरान चलता रहा। वे रेखाएँ, जिन पर विकास की प्रक्रिया आगे बढ़ी है, इस प्रक्रिया को फैलावपूर्ण दर्शाती हैं। यदि हम उस रेखा को, जिससे मनुष्य जीवन के सबसे सरल रूपों या जीवद्रव्य से ऊपर उठा है, एक सीधी रेखा द्वारा निरूपित करें; और उस रेखा को, जिससे जीवन के सबसे निम्न रूप, जैसे कि कुछ फोरामिनिफेरा, अपने निम्नतम स्तर पर बने रहे हैं, सीधी रेखा के नीचे से शुरू होने वाली एक क्षैतिज रेखा द्वारा, निरूपित करें, तो हमारे पास दो रेखाएँ एक समकोण बनाती हैं। एक मानव के विकास की रेखा को दर्शाती है, दूसरी फोरामिनिफेरा के विकास की। इन दो रेखाओं के बीच आप आवश्यकतानुसार जितनी चाहें उतनी रेखाएँ डाल सकते हैं। वह रेखा जो सबसे लगभग सीधी है, मनुष्य को छोड़कर, कशेरुकी के उच्चतम रूप के विकास को दर्शाएगी; अगली, उससे अगली सबसे ऊँची; और इसी तरह तब तक जब तक आप अकशेरुकी जीवों को दर्शाने वाली रेखाओं तक नहीं पहुँच जाते; और इसी तरह तब तक करते रहें जब तक आप उन रेखाओं तक न पहुँच जाएँ जो क्षैतिज के और करीब पहुँचती जा रही हैं। इस प्रकार आपके पास रेखाओं का एक पूरा समूह होगा, जो सभी एक ही बिंदु से निकलती हैं, लेकिन फिर भी अलग-अलग दिशाओं में बिखरती हैं।

जीवन की आपाधापी, जीवन की लहर , इस प्रकार बिखरी हुई है; और यदि हम मानसिक विकास की व्याख्या भौतिक जीवन के अनुरूप करें, तो हमें

[125]

एम. बर्गसन कहते हैं कि उत्तरार्द्ध में ऐसा कुछ भी नहीं है जो हमें यह मानने के लिए बाध्य करे कि बुद्धि विकसित वृत्ति है या वृत्ति पतित बुद्धि है। यदि ऐसा है, तो हम कह सकते हैं कि न तो ऐसा कुछ है जो हमें यह मानने का औचित्य देता है कि धर्म विकसित जादू है या जादू पतित धर्म है। मंत्र पतित प्रार्थना नहीं है, न ही प्रार्थना मंत्र का कोई श्रेष्ठ रूप है: न तो एक दूसरे के रूप में बनता है और न ही बन सकता है, यद्यपि मनुष्य बड़ी तेजी से दोनों के बीच दोलन कर सकता है, और लंबे समय तक ऐसा ही दोलन करता रह सकता है। दोनों मनोदशाएँ शुरू से ही भिन्न थीं, यद्यपि मनुष्य लंबे समय तक दोनों के बीच स्पष्ट रूप से भेद नहीं कर पाया। हालाँकि विकास की फैलावकारी शक्ति उन्हें अधिक से अधिक व्यापक रूप से अलग करती जाती है, जब तक कि अंततः दोलन समाप्त न हो जाए, यदि यह असंभव न हो जाए।

विकास की प्रसारक शक्ति विवेक की शक्ति में प्रकट होती है जिसके द्वारा मनुष्य उन भिन्नताओं के प्रति सचेत हो जाता है जिन पर विचार की प्रारंभिक उलझन में उसने कम ध्यान दिया था; और अंततः वह तर्क, नैतिकता या धर्म के मूल सिद्धांतों के प्रति, मानक सिद्धांतों के रूप में, सचेत हो सकता है, जिनके अनुसार उसे लगता है कि उसे कार्य करना चाहिए, हालाँकि उसने हमेशा उनके अनुसार कार्य नहीं किया है, और न ही हमेशा उनके अनुसार कार्य करता है। शुरुआत में भावनाओं और विचारों में भ्रम होता है, दोनों ही इस बात को लेकर कि प्रार्थना किस दिशा में की जा रही है और किस दिशा में

[126]

जो प्रार्थनाएँ प्रस्तुत की जानी चाहिए, उनकी प्रकृति। लेकिन हम ग़लत होंगे, अगर इस भ्रम से हम यह अनुमान लगाएँ कि भ्रम के पीछे कोई सिद्धांत नहीं है। हम ग़लत होंगे, अगर हम कहें कि प्रार्थना, यदि बहुदेववादी देवताओं को संबोधित है, तो वह प्रार्थना नहीं है; या यह कि प्रार्थना, यदि किसी बुतपरस्त को संबोधित है, तो वह प्रार्थना नहीं है। दोनों ही मामलों में, जिस प्राणी से प्रार्थना की जाती है, उसे बहुदेववाद और बुतपरस्ती द्वारा ग़लत समझा जाता है और ग़लत तरीके से प्रस्तुत किया जाता है; और यह ग़लतफ़हमी विवेक और आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि की कमी के कारण होती है। लेकिन अवलोकन न करना इस बात का प्रमाण नहीं है कि अवलोकन की शक्ति का अभाव है या यह कि अवलोकन करने योग्य कुछ भी नहीं है। जिस प्राणी से प्रार्थना की जाती है, वह प्रार्थना करने वाले व्यक्ति की उसके बारे में धारणा से बहुत भिन्न हो सकता है, और फिर भी वास्तविक हो सकता है।

तो फिर, बहुदेववादी देवताओं या यहाँ तक कि बुतपरस्तों के समक्ष की गई प्रार्थनाएँ भी प्रार्थनाएँ ही हो सकती हैं। लेकिन प्रार्थनाएँ केवल बहुदेववादी देवताओं या बुतपरस्तों के समक्ष ही नहीं, बल्कि एकेश्वरवादी के एकमात्र ईश्वर के समक्ष भी की जा सकती हैं, जिसे कभी नहीं किया जाना चाहिए। 'हे तेरी कृपा, मेरे शत्रुओं का नाश कर', रूप में प्रार्थना है: यह एक इच्छा है, एक ईश्वर से प्रार्थना है, जो ईश्वरीय शक्ति की श्रेष्ठता की मान्यता, यहाँ तक कि आराधना का भी संकेत देती है। लेकिन अंततः इसे एक असंभव प्रार्थना के रूप में निंदित किया जाता है: आध्यात्मिक रूप से यह शब्दों का विरोधाभास है। हालाँकि, अगर हम कहें कि यह प्रार्थना नहीं है, और कभी थी ही नहीं; और वह भी केवल विचारों के भ्रम के कारण

[127]

क्या कभी ऐसा माना गया था, हमें बताया जा सकता है कि, एक साधारण तथ्य के रूप में, यह एक वास्तविक

प्रार्थना है जो वास्तव में प्रस्तुत की गई थी। यह स्वीकार किया जा सकता है कि इसे - धर्म के विकास के एक बाद के चरण के दृष्टिकोण से - प्रस्तुत नहीं किया जाना चाहिए था; लेकिन यह कि यह वास्तव में प्रस्तुत की गई प्रार्थना थी, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। इसका उत्तर यह प्रतीत होता है कि प्रार्थना के साथ भी ऐसा ही है जैसा तर्क के साथ: एक भ्रांति भ्रांति ही है, ठीक उसी तरह जैसे उसके पकड़े जाने से पहले और बाद में। यह तथ्य कि उसका पकड़ा न जाना उसे एक ठोस तर्क नहीं बनाता; और इससे भी कम यह सिद्ध होता है कि अब सही तर्क के कोई सिद्धांत नहीं हैं या तब कोई नहीं थे; यह केवल यह दर्शाता है कि इस बिंदु पर विचारों में भ्रम था। इसी प्रकार हम स्वीकार कर सकते हैं - हमारे पास स्वीकार करने के अलावा कोई विकल्प नहीं है - कि आध्यात्मिक भ्रांति के साथ-साथ तर्क की भ्रांति भी हैं। ऐसी ही प्रार्थनाएँ हैं जो प्रार्थना के रूप में हैं, ठीक उसी तरह जैसे तार्किक भ्रांति तर्क के रूप में हैं। वे पूज्य को संबोधित हो सकती हैं, जैसे भ्रांति तर्क को संबोधित होती हैं; और अंततः उनकी भ्रामक प्रकृति मनुष्य के विवेक के लिए भी स्पष्ट हो सकती है। लेकिन यह केवल प्रार्थना के विकास से, अर्थात् उसके वास्तविक स्वरूप के प्रकटीकरण से ही होता है कि इस प्रकार की प्रार्थनाओं को आध्यात्मिक भ्रांतियों के रूप में पहचाना और निंदित किया जाता है। ऐसी प्रार्थनाएँ करने वाला व्यक्ति वास्तव में अपनी भूल से अनभिज्ञ होता है, लेकिन फिर भी वह गलती करता है, ठीक वैसे ही जैसे प्रार्थना का प्रयोग करने वाला व्यक्ति

[128]

एक भ्रामक तर्क स्वयं अपने भ्रम का शिकार हो सकता है: लेकिन फिर भी वह गलती करता है क्योंकि वह स्वयं धोखा खा जाता है। प्रार्थना के मानक सिद्धांत होते हैं और विचार के मानक सिद्धांत भी; और दोनों 'मानव विचार की सतह पर आने और स्पष्ट रूप से व्याख्या किए जाने से बहुत पहले' कार्य करते हैं। विचार में ही विचार के मानक सिद्धांत उभरते हैं। लेकिन ऐसा बिल्कुल नहीं है कि वे हर व्यक्ति के विचार की सतह पर आते हैं। इसी प्रकार प्रार्थना में ही प्रार्थना के मानक सिद्धांत उभरते हैं; फिर भी लोगों को प्रार्थना करना सिखाने की आवश्यकता होती है। कुछ प्रार्थनाएँ स्वीकार्य हैं, कुछ नहीं।

यदि प्रार्थना के भी मानक सिद्धांत हैं, जैसे कर्म, विचार और वाणी के हैं; यदि ऐसी प्रार्थनाएँ हैं जो अनुमेय नहीं हैं, और जो प्रार्थनाएँ नहीं हैं और कभी नहीं हो सकतीं, हालाँकि एक आध्यात्मिक भ्रांति से, तार्किक भ्रांतियों के अनुरूप, उन्हें प्रार्थनाएँ माना जा सकता है, तो एक अनुमेय प्रार्थना की प्रकृति का निर्धारण कौन करता है? ऐसा प्रतीत होता है कि यह उस सत्ता की धारणा है जिससे प्रार्थना की जाती है। इस प्रकार प्रार्थना ईश्वर के विचार पर प्रकाश डालती है। की गई प्रार्थनाओं से हम विचार की प्रकृति का अनुमान लगा सकते हैं। अनुमेय और अनुमेय प्रार्थनाओं का भ्रम ईश्वर के विचार की भ्रमित धारणा की ओर संकेत करता है। यह केवल अपूर्ण धारणा नहीं है, बल्कि भ्रमित धारणा है। बहुदेववाद में यह भ्रम प्रकट होता है

[129]

स्वयं, क्योंकि यह नैतिकता के सिद्धांतों के साथ टकराव की ओर ले जाता है: जो देवता एक-दूसरे से युद्ध करते हैं, उनमें से प्रत्येक को स्वयं को सही मानना होगा; इसलिए या तो कुछ देवता नहीं जानते कि क्या सही है, या देवताओं द्वारा भी ज्ञात होने का कोई अधिकार नहीं है। इस भ्रम से बचने का एकमात्र उपाय, जो धर्म और नैतिकता दोनों के लिए संतोषजनक है, यह स्वीकार करना है कि नैतिकता की एकता और ईश्वरत्व की एकता परस्पर एक दूसरे को निहित करती हैं। लेकिन जब तक नैतिकता के परिवर्तनशील मानक वाले देवताओं की बहुलता में विश्वास किया जाता है, तब तक स्वीकार्य और अस्वीकार्य प्रार्थनाओं के बीच का अंतर दृढ़ता से या सही ढंग से नहीं किया जा सकता है।

एक आदिवासी देवता से कबीले के शत्रुओं का वध करने की प्रार्थना की जाती है, क्योंकि उसे कबीले का देवता माना जाता है, न कि उसके शत्रुओं का। यदि 'मैं तेरा सेवक हूँ' की घोषणा प्रथम पुरुषवाचक सर्वनाम पर बल देते हुए की

जाती है, जिससे यह आभास होता है कि अन्य लोग तेरे सेवक नहीं हैं, तो इसका तात्पर्य यह है कि तेरे सेवकों के शत्रु तेरे शत्रु हैं; जबकि यदि सभी मनुष्यों के लिए एक ही ईश्वर है, तो सभी मनुष्य उसके सेवक हैं, न कि केवल एक व्यक्ति या एक कबीला। ईश्वर को केवल एक कबीले के देवता के रूप में मानना, ईश्वर की अवधारणा की एक अपूर्ण और भ्रमित समझ है। लेकिन यह किसी ईश्वर को एक व्यक्तिगत स्वामी से संबंधित मानने से कम है, जैसा कि एक बुतपरस्ती करती है। एक बुतपरस्ती के लिए विशिष्ट, यद्यपि एकमात्र नहीं,

[130]

प्रार्थना का मूल मंत्र है, 'मेरे शत्रुओं का वध करो'; और यही एक बुतपरस्त और समुदाय के देवता के बीच का अंतर है। यह अंतर उसी प्रकार का है जैसा एक आदिवासी देवता और समस्त मानवजाति के देवता के बीच होता है। बुतपरस्त और आदिवासी देवता, दोनों ही ईश्वर के बारे में अपर्याप्त विचार हैं; और यह अपर्याप्तता भ्रम का कारण बनती है—यह भ्रम कि ईश्वर केवल व्यक्तिगत उपासक या उपासकों के समूह की इच्छाओं की पूर्ति और उनकी इच्छा पूरी करने के लिए है।

इस भ्रम से मुक्ति कुछ हद तक इस तथ्य से सुरक्षित है कि समुदाय के देवता से प्रार्थना समुदाय द्वारा सार्वजनिक रूप से और सार्वजनिक पूजा के हिस्से के रूप में ऊंची आवाज़ में की जाती है; और, परिणामस्वरूप, एक समुदाय के रूप में समुदाय की इच्छाओं की पूर्ति सुनिश्चित करने के उद्देश्य से। समुदाय पर आशीर्वाद, इस स्तर पर, एकमात्र आशीर्वाद है जिसमें व्यक्ति उचित रूप से साझा कर सकता है, और एकमात्र ऐसा आशीर्वाद है जिसके लिए वह समुदाय के देवता से प्रार्थना कर सकता है। इस प्रकार याचिकाओं की प्रकृति, और जिस दिशा में अनुमत याचिकाओं को संबोधित किया जा सकता है, इस तथ्य से निर्धारित होते हैं कि प्रार्थना एक समुदाय के रूप में समुदाय द्वारा किया गया कार्य है। यदि किसी व्यक्ति की इच्छाएं ऐसी हैं जिन्हें समुदाय द्वारा अस्वीकार कर दिया जाएगा, क्योंकि वे समुदाय के लिए हानिकारक हैं, तो उन्हें समुदाय की उपस्थिति में, समुदाय के देवता के ऊपर प्राथमिकता नहीं दी जा सकती है

[131]

प्रार्थनाओं को उनसे अलग किया जाने लगता है जो अस्वीकार्य हैं - प्रार्थना का एक मानक सिद्धांत उभरता है, और ईश्वर का विचार अधिक निश्चित रूप लेना शुरू कर देता है, या उस धुंध से कुछ हद तक उभरने लगता है जो पहले उसे घेरे हुए थी।

यद्यपि अनुमेय प्रार्थनाओं को अनुज्ञेय प्रार्थनाओं से अलग किया जा सकता है, फिर भी इसका यह अर्थ नहीं है कि अनुज्ञेय प्रार्थनाएँ प्रस्तुत करना बंद कर दिया गया है। वास्तव में होता यह है कि चूँकि समुदाय अपने लिए हानिकारक समझी जाने वाली प्रार्थनाओं को अपने देवता के समक्ष प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं देता और न ही दे सकता है, इसलिए उन्हें निजी तौर पर एक बुतपरस्त के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है; या, अधिक सटीक रूप से कहें तो, ऐसे मामलों में समुदाय के कल्याण से असंबंधित किसी सत्ता या शक्ति की खोज की जाती है; और इस प्रकार प्राप्त सत्ता को धर्म विज्ञान में बुतपरस्त के रूप में जाना जाता है। हालाँकि बुतपरस्त देवता से भिन्न होता है, क्योंकि बुतपरस्त जनजाति के किसी सदस्य को हानि पहुँचाएगा, और देवता नहीं पहुँचाएगा, फिर भी यह अंतर स्पष्ट नहीं है। कुछ ऐसी चीज़ें हैं जिनके लिए दोनों से समान रूप से प्रार्थना की जा सकती है: दोनों से उस व्यक्ति का भला करने की प्रार्थना की जा सकती है जो उन्हें संबोधित करता है। इस सुरक्षात्मक अनुकरण के कारण ही बुतपरस्त अपनी उत्तरजीविता शक्ति का कुछ श्रेय लेता है। इसी कारण से, मंत्र और जादू, धर्म और प्रार्थना के साथ-साथ अपना अस्तित्व बनाए रखने की कोशिश करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि पहले समुदाय के देवता को समुदाय की प्रार्थनाएँ सुनने वाला माना जाता है, न कि केवल समुदाय की।

[132]

व्यक्ति: शुरू से ही यह ईश्वर की इस धारणा का हिस्सा रहा है कि वह अपने सभी उपासकों की समान रूप से परवाह करता है। इस विश्वास को, तार्किक और आध्यात्मिक दोनों ही रूपों में, इसके पूर्ण परिणामों तक पहुँचाने के लिए, यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्तिगत उपासक स्वयं को भूल जाए, अपनी विशिष्ट प्रवृत्तियों का त्याग करे, स्वयं को त्याग दे और अपनी नहीं, बल्कि ईश्वर की इच्छा पूरी करने की इच्छा रखे। लेकिन इससे पहले कि स्वयं को सचेतन रूप से त्यागा जा सके, स्वयं की चेतना का बोध होना आवश्यक है। स्वयं की इच्छा को समर्पित करने से पहले, उसके अस्तित्व का बोध होना आवश्यक है। और आत्म-चेतना, इच्छा के अस्तित्व और स्वयं की वास्तविकता की पहचान, समुदाय के इतिहास और व्यक्ति के व्यक्तिगत इतिहास, दोनों में अपेक्षाकृत देर से आती है। पहले तो व्यक्तिगत इच्छा और व्यक्तिगत स्व के अस्तित्व को समुदाय द्वारा मान्यता नहीं दी जाती और समुदाय की पूजा और प्रार्थनाओं में इसका प्रावधान नहीं किया जाता। समुदाय ही, एक समुदाय के रूप में, न कि इतने सारे व्यक्तिगत उपासकों के रूप में, जो अलग-अलग प्रार्थनाएँ करते हैं, सबसे पहले समुदाय के ईश्वर के पास पहुँचता है। व्यक्तिगत उपासक के अस्तित्व को, एक व्यक्ति के रूप में, नकारा नहीं जाता, वह बस अज्ञात है, या यूँ कहें कि समुदाय द्वारा उसका एहसास नहीं किया जाता। लेकिन इसकी हलचल स्वयं व्यक्ति में महसूस की जाती है: वह उन इच्छाओं के प्रति सचेत होता है जो समुदाय की इच्छाओं से भिन्न होती हैं, और जिनकी पूर्ति समुदाय द्वारा समुदाय के ईश्वर से की जाने वाली प्रार्थनाओं का हिस्सा नहीं होती। उसका

[133]

आत्म-चेतना, समुदाय के विपरीत स्वयं के प्रति उसकी चेतना, ऐसी इच्छाओं के विकास से पोषित होती है। इनमें से कुछ की पूर्ति के लिए, जो स्पष्ट रूप से समाज-विरोधी हैं, उसे अपनी बुतपरस्ती की ओर रुख करना पड़ता है, या जादू की शक्ति पर निर्भर रहना पड़ता है। यहाँ तक कि अपनी उन इच्छाओं की पूर्ति के लिए भी, जो समाज-विरोधी नहीं लगतीं, लेकिन जिनका समुदाय की प्रार्थनाओं में कोई स्थान नहीं है, उसे समुदाय के देवता के अलावा किसी अन्य शक्ति पर निर्भर रहना पड़ता है; और इसलिए, इन निर्दोष इच्छाओं की पूर्ति के लिए वह मंत्रों पर ही भरोसा करता रहता है, क्योंकि समुदाय की प्रार्थनाओं में ये शामिल नहीं हैं।

व्यक्ति में, समुदाय की इच्छाओं से भिन्न इच्छाओं का अस्तित्व, व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत अस्तित्व की कुछ चेतना के प्रति जागृत करता है। उन इच्छाओं की पूर्ति सुनिश्चित करने का प्रयास उसकी आत्म-चेतना को और भी बढ़ाता है, क्योंकि वह उन शक्तियों का सहारा लेता है जिनका प्रयोग केवल समुदाय के हित में नहीं होता, जैसे कि समुदाय के देवता की शक्तियाँ। लेकिन उसकी बढ़ती आत्म-चेतना समुदाय के देवताओं के उपासक के रूप में उसके चरित्र और कर्म को परिवर्तित करने में विफल नहीं होती। यह समुदाय के देवताओं के साथ उसके संबंध को इस अर्थ में परिवर्तित करती है, अर्थात् वह उनके सामने न केवल समुदाय के एक ऐसे सदस्य के रूप में प्रकट होता है जो अन्य सदस्यों से अलग नहीं है, बल्कि एक ऐसे व्यक्ति के रूप में प्रकट होता है जो कुछ हद तक अपने

[134]

वह देवताओं की पूजा में भाग लेना जारी रखता है, लेकिन वह अपनी इच्छाओं के प्रति सचेत रहता है जो भगवान के लिए प्रार्थना बन सकती हैं, जब तक कि उन्हें समुदाय की भलाई के साथ असंगत नहीं माना जाता है।

इस अवस्था के बारे में हमें असीरिया के कीलाकार शिलालेखों में प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। किसी भी देवता के उपासक को हानि पहुँचाने के लिए प्रयुक्त किए गए मंत्र, ऐसे मंत्र हैं जिनके विरुद्ध उपासक देवताओं से उचित रूप से सुरक्षा की याचना कर सकता है। एक देवता मूलतः अपने उपासकों का रक्षक होता है, और वह प्रत्येक की, बल्कि सभी की भी रक्षा करता है। इसलिए उनमें से प्रत्येक उससे सुरक्षा की याचना कर सकता है। हालाँकि उनमें से कोई भी ऐसा

कर सकता है, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि समय के साथ ही इस प्रकार की व्यक्तिगत याचनाएँ देवताओं के समक्ष रखी जाने लगीं। और कीलाकार शिलालेखों के प्रमाण इस बात के विशेष रूप से रोचक और शिक्षाप्रद हैं कि यह कैसे हुआ।

'मक्लू' पट्टिकाओं में हम पाते हैं कि इन पट्टिकाओं के रचयिता मंत्रों के शिकार हैं, या ऐसा अनुमान लगाते हैं कि वे मंत्रों के शिकार हो सकते हैं। इन शिलालेखों को स्वयं प्रति-जादू या प्रति-मंत्र माना जा सकता है, और कुछ विद्वानों द्वारा इनका वर्णन भी किया गया है। वास्तव में, इनमें प्रति-मंत्र शामिल हैं, हालाँकि इन्हें प्रति-मंत्रों से युक्त नहीं कहा जा सकता। इनकी विशिष्ट विशेषता यह है कि इनमें कुछ इस प्रकार के वाक्यांश शामिल हैं, 'हे डायन, तू जो भी हो, मैं तेरे हाथ पीछे बाँधता हूँ।'

[135]

'तुम्हें' या 'तुमने जो जादू किया है, वह तुम्हारे ऊपर ही लौट आए।' यदि पीड़ित व्यक्ति बीमारी के कारण पीला पड़ रहा है, तो प्रति-मंत्र है 'हे डायन, इस मुहर के घेरे की तरह, तुम्हारा चेहरा भी पीला और हरा हो जाए।'

जिन अनुष्ठानों के साथ ये प्रति-मंत्र किए गए थे, वे शब्दों द्वारा इंगित किए गए हैं, और वे अनुष्ठान उसी प्रकार के हैं जैसे मंत्रों के अनुष्ठान: वे प्रतीकात्मक क्रियाएँ हैं, अर्थात्, वे क्रियाएँ जो हाव-भाव द्वारा वही अर्थ और आशय व्यक्त करती हैं जो शब्दों द्वारा व्यक्त किए जाते हैं। इस प्रकार, शब्दों से:

'जैसे ही पानी उसके शरीर से दूर चला जाता है

तो उसके शरीर में महामारी धीरे-धीरे दूर हो जाएगी,'

यह स्पष्ट है कि इस प्रति-जादू के साथ शब्दों द्वारा इंगित एक औपचारिक अनुष्ठान भी जुड़ा था। जैसे जादू करने वाले व्यक्ति की छवि का उपयोग जादू करने वाले द्वारा किया जाता था, वैसे ही प्रति-जादू करने वाले द्वारा उसकी 'जिसने मुझे मोहित किया है' की छवि का उपयोग इन शब्दों के साथ किया जाता है:

'उसका जादू नष्ट हो जाए, और उस पर

और उसकी छवि पर यह पीछे हट सकता है।'

अब, यदि ऐसे शब्द, तथा प्रतीकात्मक क्रियाएं, जिनका वर्णन और निहितार्थ किया गया है, वे सब इन मक्लु गोलियों में समाहित हैं, तो यह तर्क दिया जा सकता है कि ये प्रति-मंत्र शुद्ध जादू के टुकड़े थे।

[136]

यह तर्क वास्तव में निर्णायक नहीं होगा, क्योंकि यद्यपि वाक्य इच्छापूर्ण भाव में हैं, फिर भी यह दर्शाने के लिए कुछ भी नहीं है कि वक्ता ने अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए किस पर या किस पर भरोसा किया। लेकिन जैसा कि होता है, इन मक्लु पट्टिकाओं की विशेषता यह है कि ये सभी देवताओं को नाम से संबोधित हैं, जैसे 'महान देवता मेरे शरीर से जादू हटाएँ,' या 'हे प्रज्वलित अग्निदेव, अनु के पराक्रमी पुत्र! मेरे मामले का न्याय करें और मुझे निर्णय दें! जादूगरों और जादूगरनी को जला दें!' देवताओं से प्रार्थना की जाती है कि जादूगरनी का वचन 'उसके ही मुँह में लौट आए; शक्ति के देवता उसके जादू से उसे मार डालें; उसका किया हुआ जादू नमक की तरह चूर्ण हो जाए।'

इस प्रकार, ये मक्लू प्रार्थनाएँ प्रति-मंत्र नहीं हैं, जैसा कि पहली नज़र में लग सकता है; न ही इन्हें जादू का प्रतिकार करने वाले मंत्रों के रूप में ही माना जाना चाहिए। ये रूप में और वास्तव में देवताओं से 'मंत्र को उलटने' और चुड़ैल के 'शब्दों को वापस उसके मुँह में डालने' के लिए प्रार्थनाएँ हैं। हालाँकि जिस रूप में ये मक्लू प्रार्थनाएँ हमारे पास सुरक्षित हैं, वे देवताओं से प्रार्थनाएँ प्रतीत होती हैं, न कि मंत्र या प्रति-मंत्र; यह सच है, और ध्यान देने योग्य बात है, कि कुछ मामलों में, संकल्पात्मक भाव में दिए गए वाक्य देवताओं के आह्वान से बिल्कुल अलग प्रतीत होते हैं। ये वाक्य, जाहिर तौर पर, किसी समय, काफी हद तक मान्य रहे होंगे।

[137]

स्वयं के लिए, तथा देवताओं के आह्वान से अलग; अर्थात्, वे मूलतः मंत्र या प्रति-मंत्र रहे होंगे, तथा बाद में देवताओं को संबोधित प्रार्थनाओं में शामिल किए गए होंगे।

आइए मान लें कि इनमें से कुछ मक्लू प्रार्थनाओं के साथ भी ऐसा ही हुआ था, और आइए विचार करें कि जब हम यह धारणा बनाते हैं तो क्या निहित है। निहित यह है कि कुछ इच्छाएँ हैं, उदाहरण के लिए, इन मक्लू प्रार्थनाओं में निहित इच्छाएँ, जिन्हें मंत्रों के माध्यम से पूरा किया जा सकता है, या समुदाय के देवताओं की तुलना में उचित रूप से प्राथमिकता दी जा सकती है। ये इच्छाएँ व्यक्तिगत उपासक के कल्याण और उन दुष्टों की पराजय के लिए होती हैं जो उसके साथ अन्याय करते हैं या कर रहे हैं। जब यह मान लिया जाता है कि व्यक्ति - और साथ ही समुदाय - समुदाय के देवताओं के समक्ष अपनी शिकायतें लेकर आ सकते हैं, तो उन देवताओं के कार्य विस्तृत हो जाते हैं, क्योंकि उनमें समुदाय के व्यक्तिगत सदस्यों की सुरक्षा के साथ-साथ समुदाय की सुरक्षा भी शामिल हो जाती है; और इस प्रकार समुदाय के देवताओं के कार्य विस्तृत और विस्तृत हो जाते हैं, क्योंकि समुदाय के सदस्य, कुछ हद तक, अपनी वैयक्तिकता के प्रति सचेत व्यक्ति बन गए हैं। धर्म के विज्ञान के लिए, आत्म-चेतना के इस विकास का महत्व यह है कि स्वयं की चेतना का एहसास होना चाहिए

[138]

इससे पहले कि स्वयं को सचेतन रूप से त्यागा जा सके, अर्थात् इससे पहले कि स्व-इच्छा को सचेतन रूप से समर्पित किया जा सके।

जैसा कि मक्लु प्रार्थनाओं से पता चलता है, धर्म के विकास के क्रम में, एक ऐसा चरण आ सकता है जिसमें यह माना जाता है कि व्यक्तिगत उपासक अपने कष्टों से मुक्ति के लिए देवताओं से प्रार्थना कर सकता है। और जैसा कि हमने देखा है, कुछ मामलों में प्रयुक्त प्रार्थनाएँ देवताओं के अनुष्ठान में, शब्दशः, उसी रूप में अपनाई गई प्रतीत होती हैं जैसे वे पहले से ही अस्तित्व में थीं। यदि वे, उन शब्दों में जिनमें वे व्यक्त की गईं और जिस उद्देश्य को वे प्राप्त करना चाहती थीं, इस प्रकार थीं कि उन्हें, जैसे वे थीं, और बिना किसी परिवर्तन के, समुदाय के देवताओं के अनुष्ठान में शामिल किया जा सकता था, तो ऐसा प्रतीत होता है कि, उनके इस प्रकार अपनाए जाने से पहले भी, वे धर्म की भावना से पूरी तरह से, यदि बिल्कुल भी, अलग नहीं हो सकती थीं। क्यूनिफॉर्म शिलालेखों में, उन्हें धार्मिक के रूप में चिह्नित करने वाला तत्व उनका संदर्भ है: यह दर्शाता है कि इन प्रार्थनाओं में व्यक्त इच्छाओं की पूर्ति के लिए जिस शक्ति का सहारा लिया गया था, वह देवताओं की शक्ति थी। संदर्भ हटा दें, तो यह अस्पष्टता का विषय बन जाता है कि क्या इच्छा व्यक्त करने वालों द्वारा, इच्छा की पूर्ति के लिए किसी ऐसी शक्ति पर निर्भर माना जाता है जो इच्छा व्यक्त करने वालों के पास होती है और जिसका प्रयोग वे करते हैं, या क्या यह किसी अस्पष्ट रूप से कल्पित प्राणी की सद्भावना पर निर्भर माना जाता है, जिसका नाम लेकर उसे संबोधित नहीं किया जाता। लेकिन यदि अंततः

[139]

इच्छा, और जिन शब्दों में इसे व्यक्त किया गया था, को देवताओं की पूजा में लिया जाता है, संभावना का एक संतुलन प्रतीत होता है कि इच्छा शुरू से ही जादू की बजाय धर्म की प्रकृति की थी, एक आदेश की बजाय एक याचिका थी; हालांकि श्रेणियों को पहले भेदभाव नहीं किया गया था, और शुरू में उस दिशा की कोई स्पष्ट दृष्टि नहीं थी जहां से इच्छा की पूर्ति की उम्मीद की गई थी।

इस दृष्टिकोण से, इच्छावाचक वाक्य, यानी वे वाक्य जो उन्हें कहने वाले की इच्छाओं को व्यक्त करते हैं, शुरुआत में अस्पष्ट रहे होंगे, क्योंकि उन्हें कहने वालों के मन में उस दिशा की कोई स्पष्ट धारणा नहीं थी जिसके लिए वे संबोधित थे: ईश्वर का विचार अस्पष्टता की चरम सीमा तक अस्पष्ट रहा होगा। हालाँकि, इनमें से कुछ इच्छावाचक वाक्य ऐसे थे जिनमें समग्र समुदाय शामिल हो सकता था; और वे संभावित रूप से, और वास्तव में, समुदाय के ईश्वर के लिए प्रार्थनाएँ बन गए। जिस सत्ता से समग्र समुदाय प्रार्थना कर सकता था, उसे इस प्रकार समुदाय के ईश्वर के रूप में प्रदर्शित किया गया। ईश्वर का विचार, अब तक, कुछ कम अस्पष्ट, कुछ अधिक स्पष्ट रूप से परिभाषित हो गया था। हालाँकि, इच्छावाचक वाक्य, जिनमें समुदाय शामिल नहीं हो सकता था, जिनमें उन्हें बनाने वाले व्यक्ति के अलावा कोई भी भाग नहीं ले सकता था, समुदाय के ईश्वर को संबोधित नहीं किए जा सकते थे। इस प्रकार ईश्वर के विचार को नकारात्मक रूप से परिभाषित किया गया था: ऐसी इच्छाएँ थीं जिन्हें व्यक्त नहीं किया जा सकता था।

[140]

उन्हें जो बातें बताई गईं, वे समुदाय की भलाई के प्रतिकूल थीं।

असभ्य लोगों की प्रार्थनाएँ, अर्थात् उन लोगों की प्रार्थनाएँ जो संभवतः आदिम मनुष्य की परिस्थितियों और अवस्था के सबसे निकट हैं, वह सामग्री प्रदान करती हैं जिससे हम सबसे अच्छी तरह अनुमान लगा सकते हैं कि ईश्वर का वह विचार क्या था जो उन क्षणों में उनकी चेतना में विद्यमान था जब वह उनके लिए सबसे अधिक स्पष्ट रूप से विद्यमान था। धर्म और धार्मिक विश्वास के रूपों की अनंत संख्या और विविधता को देखते हुए, पूर्वानुमति से , विभिन्न और परस्पर विरोधी विचारों की समान रूप से अनंत संख्या की अपेक्षा करने से अधिक उचित कुछ भी प्रतीत नहीं होगा। विशेष रूप से यह उन लोगों के लिए एक उचित अपेक्षा प्रतीत होनी चाहिए जो ईश्वर के विचार को मूलतः, और अपने मूल स्वरूप से, असंभव और अस्थिर मानते हैं। और जब तक हम इस विचार पर चिंतन के माध्यम से इसे मूर्त रूप देने के लिए किए गए प्रयासों को देखते हैं, तब तक हमारे पास सभी पौराणिक कथाओं के प्रमाण हैं जो उन विकरालताओं की अनंत विविधता को दर्शाते हैं, जिन्हें इस विचार पर चिंतन उत्पन्न करने में सक्षम है। यदि हम यहीं रुक जाते हैं, तो असभ्य और तर्कहीन असंगति की हमारी पूर्वानुमति से अधिक अपेक्षा और घृणित अतिरेक की पूर्ति होती है। लेकिन यहीं रुक जाना, बीच में ही रुक जाना है, और उस जंगली की अटकलों को स्वीकार कर लेना है जब वह अपने अनुभव पर विचार कर रहा है, बजाय इसके कि हम आगे बढ़कर स्वयं पता लगाएं कि उसका अनुभव वास्तव में क्या था।

[141]

यह पाते हुए कि, हम उनके चिंतन पर हमेशा के लिए रुककर संतुष्ट नहीं हो सकते। हमें उनके अनुभव के उस क्षण पर वापस जाना होगा, यानी उन क्षणों पर जब वे अपने देवताओं के समक्ष होते हैं और उनसे बात कर रहे होते हैं। ये वे क्षण हैं जब वे प्रार्थना करते हैं और जिनमें उन्हें इस बात में कोई संदेह नहीं होता कि वे अपने देवताओं के साथ एकाकार हो रहे हैं। इसलिए, उनकी प्रार्थनाओं से ही हमें यह अनुमान लगाना चाहिए कि जिन देवताओं से वे प्रार्थना करते हैं, उनके बारे में उनके क्या विचार हैं।

हालाँकि, जब हम उनकी प्रार्थनाओं को ईश्वर के बारे में उनके विचार का अनुमान लगाने के प्रमाण के रूप में लेते हैं, न कि काल्पनिक पौराणिक कथाओं के अतिरेक के रूप में, तो हमें सर्वत्र एक नंगी सादगी और सर्वत्र एकरूपता दिखाई देती है। यदि यह हमारी अपेक्षा के विपरीत है और पहली नज़र में अजीब लगता है, तो हमें ध्यान रखना चाहिए कि नैतिकता का विज्ञान इस संबंध में धर्म के विज्ञान के समानांतर एक उदाहरण प्रस्तुत करता है। एक समय अनजाने में, लेकिन फिर भी निश्चित रूप से, यह मान लिया जाता था कि असभ्य लोगों के पास तर्कहीन और घृणित रीति-रिवाजों की बहुलता तो होती है, लेकिन नैतिकता नहीं होती। यह विचार कि विभिन्न असभ्य जातियों के नैतिक नियमों के बीच, और यहाँ तक कि उनके नैतिक नियमों और हमारे नैतिक नियमों के बीच भी, एक ठोस समानता हो सकती है, एक ऐसा विचार था जिस पर विचार ही नहीं किया जाता था। फिर भी, यह एक तथ्य था, हालाँकि इस पर ध्यान नहीं दिया गया; और अब यह एक ऐसा तथ्य है जिसे डॉ. वेस्टरमार्क के सौजन्य से, विवाद से परे रखा गया है। वे कहते हैं, 'जब हम असभ्य जातियों के नैतिक नियमों का परीक्षण करते हैं, तो हम पाते हैं कि वे बहुत बड़े पैमाने पर

[142]

'मानव आत्मा अपने विकास की पूरी प्रक्रिया में, वास्तव में, एक है; नैतिकता के विकास में जो अंतर्निहित एकता प्रकट होती है, वही धर्म के विकास में भी पाई जाती है; और मनुष्य की प्रार्थनाओं से ही हम इसका अनुमान लगा सकते हैं।

प्रार्थनाओं से जुड़ा पहला और मूलभूत विश्वास यह है कि जिस प्राणी को प्रार्थनाएँ अर्पित की जाती हैं—चाहे उसकी कल्पना कितनी भी अस्पष्ट क्यों न हो—ऐसा माना जाता है कि वह मनुष्य के लिए सुलभ है। मनुष्य की पुकार उस तक पहुँच सकती है। न केवल यह उस तक पहुँचती है, बल्कि ऐसा माना जाता है कि वह इसे सुनेगा; और यह उसका स्वभाव ही है कि वह इसे अनुकूल रूप से सुनने के लिए तैयार रहता है। हालाँकि वह सुनेगा, वह केवल सही भावना से की गई प्रार्थनाओं को ही सुनेगा। सबसे पहले की जाने वाली प्रार्थनाएँ संभवतः वे होती हैं जो समुदाय मुसीबत के समय में करता है; और उन्हें पश्चाताप की भावना से किया जाना चाहिए। यह इस विश्वास के साथ है कि उन्होंने अपराध किया है कि समुदाय सबसे पहले उस प्राणी की ओर मुड़ता है जिसकी पूजा की जाती है, जिससे वे अपने ऊपर आने वाली बुराई से मुक्ति की आशा करते हैं, और जिससे वे क्षमा की प्रार्थना करते हैं।

इसके अलावा, प्रार्थना करने का तात्पर्य इस विश्वास से है कि संबोधित व्यक्ति न केवल की गई प्रार्थनाओं को समझता है, बल्कि उन्हें स्वीकार करने की शक्ति भी रखता है। न केवल शक्ति, बल्कि ऐसा करने की इच्छा भी रखता है।

[143]

ऐसा करने पर, उसके पास न केवल भय के साथ, बल्कि आशा के साथ भी जाया जाता है। यदि उससे कुछ भी आशा न की जा सकती हो, तो कोई भी संपर्क नहीं किया जा सकता; और कुछ भी आशा नहीं की जा सकती, जब तक कि यह विश्वास न किया जाए कि जिस प्राणी से संपर्क किया जा रहा है, उसके पास प्रार्थना स्वीकार करने की शक्ति है। यह तथ्य कि संपर्क किया जाता है, यह दर्शाता है कि उस समय उस प्राणी को एक माना जाता है जिसके पास प्रार्थना स्वीकार करने या अस्वीकार करने का अधिकार है, एक ऐसा प्राणी जिसके अलावा, कम से कम इस संबंध में, कोई भी अन्य अधिक शक्तिशाली नहीं है, quo nihil maius ।

लेकिन संकट के समय की गई प्रार्थनाएँ, चाहे वे सबसे प्राचीन हों, या यदि वे हैं भी, तो आदिमानव द्वारा की गई एकमात्र प्रार्थनाएँ नहीं हैं। मनुष्य की इच्छाएँ सीमित नहीं हैं, और न कभी थीं: विपत्ति से मुक्ति ही एकमात्र ऐसी

चीज़ नहीं है, और न कभी रही है, जिसकी कामना मनुष्य कर सकता है। यह निश्चित रूप से एकमात्र ऐसी चीज़ नहीं है जिसके लिए वह प्रार्थना करने में सक्षम रहा है। आदिमानव भी भौतिक आशीर्वादों की कामना करता है: धरती के फल और उसका दैनिक भोजन ऐसी चीज़ें हैं जिनके लिए वह न केवल काम करता है, बल्कि प्रार्थना भी करता है। गोल्ड कोस्ट का नीग्रो अपने दैनिक चावल और रतालू के लिए, ज़ुलु मवेशियों और अनाज के लिए, समोआई प्रचुर भोजन के लिए, फिनो-उग्रियन अपनी फसलों को उगाने के लिए वर्षा के लिए प्रार्थना करता है; पेरूवासी स्वास्थ्य और समृद्धि के लिए प्रार्थना करते थे। और जब मनुष्य अपनी इच्छा पूरी कर लेता है, जब उसकी प्रार्थनाएँ स्वीकार हो जाती हैं, तो वह हमेशा उस ईश्वर को धन्यवाद देना नहीं भूलता जिसने उसकी प्रार्थना सुनी। 'हे देवताओं, धन्यवाद'; बसुतो कहता है, 'हमें कल भी रोटी दो।'

[144]

चाहे प्रार्थना भोजन के लिए हो या विपत्ति से मुक्ति के लिए, स्वाभाविक प्रवृत्ति यही होती है कि प्रार्थना पूरी होने पर कृतज्ञता और धन्यवाद का भाव प्रकट हो; और तब मानसिक भाव या भावना का भाव आशा या भय का नहीं, बल्कि कृतज्ञता और प्रशंसा का भाव होता है। यह अपने मूल में, संभावित रूप से और कुछ हद तक, वास्तव में, श्रद्धा और आराधना का भाव होता है।

'मेरे होंठ तेरी स्तुति करेंगे,

मैं जीवित रहते हुए तुझे आशीर्वाद देता रहूंगा:

मैं तेरे नाम पर अपने हाथ उठाऊंगा,

और मैं आनन्द से तेरी स्तुति करूंगा।'

प्रारंभिक, यदि आदिम नहीं, धर्मों में की जाने वाली प्रार्थनाओं से हम उस विचार के बारे में कुछ निष्कर्ष सुरक्षित रूप से निकाल सकते हैं, जो उपासकों के मन में था, उस सत्ता के बारे में जिसके बारे में वे मानते थे कि प्रार्थना में उनकी पहुँच है। वह प्रार्थना में सुलभ सत्ता थी; और उसके पास यह शक्ति थी, और, यदि उचित रूप से संपर्क किया जाए, तो उसकी इच्छाशक्ति में, समुदाय को भौतिक और बाहरी बुराइयों से मुक्ति दिलाना था। जिस भावना से उसके पास उचित रूप से जाना जाना था, वह उसके विरुद्ध किए गए अपराधों की स्वीकारोक्ति और पश्चाताप की थी: समुदाय पर जो विपत्तियाँ आईं, उन्हें उचित रूप से गिराया गया माना जाता था। उसे बिना किसी कारण के अपमानित नहीं माना जाता था। निस्संदेह अपराध के कारण, जिन दंडों के साथ उन्हें दिया गया था, उनकी तरह, बाहरी और दृश्यमान थे, इस अर्थ में कि उन्हें खोजा जा सकता था और उन सभी के लिए स्पष्ट किया जा सकता था जो संबंधित थे

[145]

उन्हें पहचानने के लिए। ये अपराध ऐसे कार्य थे जो न केवल ईश्वर के क्रोध को भड़काते थे, बल्कि समुदाय द्वारा भी निंदा किए जाते थे। इनमें वे अपराध भी शामिल थे जो विशुद्ध रूप से औपचारिक और बाह्य थे; और, कुछ लोगों के मामले में, समय के साथ ऐसे अपराधों की संख्या कम होने के बजाय संभवतः बढ़ी। कीलाकार अभिलेखों की सुरपु पट्टिकाएँ, जो ऐसे अपराधों के परिणामस्वरूप लगने वाले ममित , यानी निषेध या निषेध को हटाने के लिए निर्देशित हैं, इसका एक उदाहरण हैं। व्यभिचार, हत्या और चोरी तो अपराधों में शामिल हैं, लेकिन पट्टिकाओं में सैकड़ों अन्य अपराध भी शामिल हैं, जो विशुद्ध रूप से औपचारिक हैं, और जिन्हें पट्टिकाओं में प्राप्त प्रचुर वृद्धि तक पहुँचने में संभवतः लंबा समय लगा। औपचारिक अपराधों के लिए एक औपचारिक शुद्धि को पर्याप्त

माना जाता था। लेकिन कुछ अन्य अपराध भी थे, जैसा कि बेबीलोन के प्रायश्चित भजन प्रमाणित करते हैं, जिन्हें अधिक गहरा और पाप माना जाता था, उपासक के अपने ईश्वर के विरुद्ध व्यक्तिगत पाप। पश्चातापी चिल्लाता है:

'प्रभु, मेरे पाप बहुत हैं, मेरे दुष्कर्म महान हैं।'

वह भावना, जिसके साथ वह अपने परमेश्वर के पास जाता है, इन शब्दों में व्यक्त की गई है:

'मैं तेरा सेवक आहें भरकर तुझे पुकारता हूँ।

मैं कबूतरों की तरह विलाप करता हूँ, मैं आहें भरते-भरते थक गया हूँ,

विलाप और कराह के कारण मेरी आत्मा उदास हो गयी है।'

[146]

उसकी प्रार्थना है कि उसके अपराध क्षमा किये जायें:

'मेरे पापों को वस्त्र की तरह फाड़ डालो!

हे मेरे परमेश्वर, मेरे पाप सात गुणा सात हैं।

मेरे अधर्म को क्षमा कर।'

और उसकी आशा परमेश्वर पर है:

'हे प्रभु, तेरे सेवक, उसे मत त्याग,

मैंने जो पाप किये हैं, उन्हें आपकी कृपा से बदल दीजिए!'

मन का दृष्टिकोण, वह रिश्ता जिसमें उपासक स्वयं को अपने परमेश्वर के प्रति खड़ा पाता है, वही है जो दाऊद के भजन में प्रकट किया गया है:

'मुझे मेरे अधर्म से पूरी तरह धो डालो,

और मुझे मेरे पाप से शुद्ध कर।

क्योंकि मैं अपने अपराधों को मानता हूं:

और मेरा पाप सदैव मेरे सामने रहता है।

तेरे ही विरुद्ध, केवल तेरे ही विरुद्ध मैंने पाप किया है।

मुझे अपनी उपस्थिति से दूर मत करो।'

जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, किसी भी समुदाय द्वारा की जाने वाली सबसे प्रारंभिक प्रार्थनाएँ संभवतः संकट के समय की गई प्रार्थनाएँ थीं और इस विश्वास से प्रेरित थीं कि समुदाय के ईश्वर को उचित रूप से ठेस पहुँचाई गई है। जिन भजनों के उद्धरण अभी दिए गए हैं, वे ईश्वर के बारे में यही धारणा दर्शाते हैं, कि उन्हें अपने सेवकों के अपराधों के कारण उचित रूप से ठेस पहुँचाई गई है। उनके बीच अंतर यह है कि बाद की प्रार्थनाओं में, व्यक्तिगत आत्म-चेतना यह समझ लेती है कि व्यक्ति के साथ-साथ समुदाय भी मौजूद है; कि

[147]

व्यक्ति और समुदाय दोनों ही अपराधों के दोषी हैं; और व्यक्ति और समुदाय दोनों को क्षमा की आवश्यकता है। अर्थात्, ईश्वर की अवधारणा ने और अधिक स्पष्ट रूप धारण कर लिया है: ईश्वर को व्यक्तिगत उपासक के लिए 'मेरा ईश्वर' के रूप में प्रकट किया गया है; उपासक को 'तेरा सेवक' के रूप में; और भय केवल इस बात का नहीं है कि उपासक को समुदाय से बहिष्कृत कर दिया जाए, बल्कि इस बात का है कि उसे ईश्वर के साथ संवाद से दूर कर दिया जाए। हालाँकि, जिस संवाद की आकांक्षा की जाती है, वह अभी भी वैसा ही संवाद है जैसा एक सेवक और उसके स्वामी के बीच हो सकता है।

इसके अलावा, भौतिक और बाह्य आशीर्वाद, भौतिक और बाह्य बुराई से मुक्ति के साथ, अभी भी पुराने नियम के भजन संहिता और कीलाकार शिलालेखों दोनों में प्रार्थना के प्रमुख विषय हैं; और, जहाँ तक यह मामला है, उपासक की प्रार्थना यह है कि उसकी व्यक्तिगत इच्छा पूरी हो, और यह इसलिए है क्योंकि उसने भौतिक और बाह्य आशीर्वाद प्राप्त किए हैं, क्योंकि उसकी इच्छा पूरी हुई है, कि उसके हर्षित होंठ प्रभु की स्तुति और आशीर्वाद देते हैं। अर्थात्, ऐसी प्रार्थना और स्तुति से निहित ईश्वर का विचार यह है कि वह एक ऐसा प्राणी है जो मनुष्य की इच्छाओं की पूर्ति और उसकी इच्छा की प्राप्ति में उसकी सहायता कर सकता है। इस अवधारणा को सही ठहराने के लिए आवश्यक धारणा यह है कि मनुष्य में केवल मनुष्य की इच्छा ही कार्यरत है, ईश्वर की कभी नहीं। इस धारणा का सादृश्य इस तथ्य में है, जैसा कि पहले ही देखा जा चुका है, कि

[148]

शुरुआत में व्यक्ति आत्म-चेतन नहीं होता, या अपने अस्तित्व की वैयक्तिकता के प्रति जागरूक नहीं होता। जब व्यक्ति की आत्म-चेतना इस प्रकार बहुत कम, यदि प्रकट भी होती है, तो समुदाय ही, एक समुदाय के रूप में, अपने ईश्वर के पास जाता है और उसे उन अपराधों के लिए ज़िम्मेदार माना जाता है जिनसे उसे ठेस पहुँची है। जैसे-जैसे आत्म-चेतना स्वयं को अधिकाधिक प्रकट करती जाती है, व्यक्तिगत अपराध और व्यक्तिगत ज़िम्मेदारी की भावना और भी प्रबल होती जाती है। यदि अब हम मान लें कि इस बिंदु पर आत्मा का विकास या प्रकटीकरण रुक जाता है, और उसकी संपूर्ण अंतर्वस्तु अब प्रकट हो जाती है, तो हम यह मानेंगे कि मनुष्य में केवल मनुष्य की इच्छा ही कार्य कर सकती है, ईश्वर की कभी नहीं। वास्तव में यही वह बिंदु है जहाँ गैर-ईसाई धर्म रुक जाते हैं, यदि वे इतनी दूर पहुँच जाते हैं। ईश्वर का एक ऐसे अस्तित्व के रूप में विचार जिसकी इच्छा पूरी होनी है, न कि मनुष्य की, एक विशिष्ट ईसाई विचार है।

जहाँ तक धर्म विज्ञान हमें यह अनुमान लगाने में सक्षम बनाता है, यह प्रार्थना मनुष्य द्वारा की गई पहली प्रार्थना थी, जो बुराई से मुक्ति के लिए थी। ऐतिहासिक क्रम में, अगली प्रार्थना पापों की क्षमा के लिए थी; और फिर, जब समाज कृषि पर आधारित और फसल पर निर्भर हो गया, तो रोज़ी-रोटी के लिए प्रार्थना की गई। प्रभु की प्रार्थना में, इन प्रार्थनाओं का क्रम बिल्कुल उलट दिया गया है। उनके लिए एक नया आधार, या पूर्वधारणा, प्रदान की गई है। ये प्रार्थनाएँ अभी भी प्रस्तुत करने योग्य हैं, यदि उन्हें किसी ऐसे तथ्य की चेतना में प्रस्तुत किया जाए जो अब तक

[149]

प्रकट किया गया है—ताकि मनुष्य अपनी इच्छा न करे, परन्तु हमारे पिता की इच्छा पूरी करे, जो स्वर्ग में है।

इस प्रकार, प्रार्थना अंततः वही है जो आरंभ में थी, एक समुदाय की प्रार्थना। लेकिन जहाँ आरंभ में यह समुदाय परिवार या कबीले का एक संकीर्ण और विशिष्ट समुदाय था, वहीं अंत में यह एक ऐसा समुदाय है जिसमें समस्त मानवजाति सम्मिलित हो सकती है। इस प्रकार, ईश्वर की अवधारणा का विस्तार बढ़ा है। अपने आशय में, यूँ कहें कि, यह और भी गहरा हो गया है: ईश्वर को अपनी प्रजा और सेवकों के स्वामी और राजा के रूप में नहीं, बल्कि पृथ्वी पर अपनी संतानों के स्वर्ग में पिता के रूप में प्रकट किया गया है। हालाँकि, यह न केवल और भी गहरा हुआ है, बल्कि रूपांतरित भी हुआ है, या यूँ कहें कि इसे एक अलग भाव से देखा जाना चाहिए, और इसलिए यह एक नए रूप में प्रकट होता है: जबकि आरंभ में उपासकों का समूह, चाहे वह अपने ईश्वर के पास विपत्तियों से मुक्ति के लिए या भौतिक आशीर्वाद के लिए प्रार्थना लेकर जाता था, अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए जाता था; अंत में उपासक को यह सिखाया जाता है कि ईश्वर तक पहुँच केवल अपनी इच्छाओं के त्याग और ईश्वर की इच्छा को स्वीकार करने पर ही संभव है। धर्म का केंद्र बदल गया है: अब धर्म का केंद्र मनुष्य और उसकी इच्छाएँ नहीं हैं जिनके इर्द-गिर्द घूमना है। ईश्वर की इच्छा ही केंद्र है, जिसकी ओर मनुष्य को अब अचेतन रूप से आकर्षित नहीं होना है, बल्कि उसे स्वयं को सचेत रूप से निर्धारित करना है। जैसे सौरमंडल में गुरुत्वाकर्षण बल एक ही है, वैसे ही आध्यात्मिक तंत्र में भी वह है जो सबको धारण करता है।

[150]

आध्यात्मिक प्राणियों के बीच का अंतर वह प्रेम है जो परमेश्वर से उसके प्राणियों तक प्रवाहित होता है और जो उनसे भी बढ़कर परमेश्वर की ओर प्रवाहित हो सकता है। मनुष्य की इच्छाओं के स्थान पर परमेश्वर के प्रेम का प्रतिस्थापन ही नए स्वर्ग और नई पृथ्वी का निर्माण करता है।

विकासवाद की दृष्टि से, महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि ईश्वर की अवधारणा का यह नया पहलू पुराने पर केवल आरोपित नहीं है: यदि इसे केवल आरोपित किया जाता, तो इसका विकास नहीं होता। न ही आत्मा के लिए ईश्वर का प्रेम के रूप में प्रकटीकरण, ईश्वर की उस अवधारणा से विकसित हुआ है जिससे मनुष्य अपनी इच्छाओं की पूर्ति की कामना कर सकते हैं। धार्मिक विकास की प्रक्रिया की इस प्रकार व्याख्या करना उसकी गलत व्याख्या करना होगा, ठीक उसी प्रकार जैसे हम यह मान लें कि वनस्पति जीवन का विकास अपने सभी रूपों में पूर्ण रूप से होने के बाद ही पशु जीवन का विकास शुरू हुआ। पशु विकास की किसी उच्चतर अवस्था तक ले जाए गए वनस्पति नहीं हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे वनस्पतियाँ निम्नतर अवस्था में वापस आए पशु नहीं हैं। यदि हमें विकासवाद के सिद्धांत को आध्यात्मिक जीवन के साथ-साथ शारीरिक जीवन पर भी लागू करना है, तो हमें इसे उसी प्रकार लागू करना होगा। हमें विभिन्न रूपों को, एक मामले में और दूसरे में, अलग-अलग रेखाओं का अनुसरण करते हुए और एक ही केंद्र से अलग-अलग दिशाओं में जाते हुए देखना चाहिए, न कि एक ही रेखा के विभिन्न और क्रमिक खंडों के रूप में। अब मंत्र प्रार्थना नहीं रह गया है।

[151]

सब्जियों के जानवर बनने से भी ज्यादा। विपत्ति की शक्ति से प्रेरित होकर एक दिशा की ओर देखने के लिए—महामारी या अकाल से मुक्ति की—प्रारंभिक मनुष्य ने ईश्वर की अवधारणा में, संकट के समय एक शरणस्थली देखी। बाद में कृतज्ञता की भावना से प्रेरित होकर, मनुष्य ने ईश्वर की अवधारणा में एक श्रद्धा की वस्तु पाई; और तब उसके संबंध की व्याख्या अपने स्वामी के प्रति एक सेवक के संबंध के रूप में की। इस व्याख्या

को चाहे जिस ओर धकेला गया हो—चाहे इसका अर्थ यह हो कि सेवक को अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए अपने स्वामी को प्रसन्न करने वाले कार्य करने थे; या यह अर्थ लगाना हो कि उसके अपराध हमेशा उसके और उसके नाराज स्वामी के बीच खड़े रहते थे—उस दिशा में आगे बढ़ना असंभव था। एक नई दिशा, और इसलिए एक नया प्रस्थान बिंदु, आवश्यक था। यह ईश्वर के स्वर्गीय पिता के रूप में ईसाई विचार में सामने आ रहा था। जब वह विचार प्रकट हुआ तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह वही था जिसकी कल्पना की गई थी लेकिन धर्म ने अपने प्रारंभिक चरणों में उसे कभी प्राप्त नहीं किया। हमारी रोज़ी रोटी, पापों की क्षमा और बुराई से मुक्ति के लिए प्रार्थनाएँ, ईसाई-पूर्व धर्मों में, मनुष्य की इच्छा पर आधारित थीं। ईसाई धर्म में, इन प्रार्थनाओं को इस विश्वास के साथ प्राथमिकता दी जाती है कि इनका किया जाना ईश्वर की इच्छा के अनुसार है और उनका पूरा होना उनके प्रेम के अनुसार है; और यह विश्वास प्रार्थना का एक आदर्श सिद्धांत है।

[152]

टीओसी

ईश्वर का विचार और अस्तित्व

मनुष्य ने बहुत समय तक सोचा, बोला और कार्य किया, उसके बाद ही उन्होंने उन तरीकों पर विचार करना शुरू किया जिनसे वे ऐसा करते थे; और जब उन्होंने विचार करना शुरू किया, तब तक उन्हें उन सिद्धांतों का पता नहीं चल पाया था जिनके आधार पर वे सोचते, बोलते और कार्य करते थे, या उन्हें उन सिद्धांतों के रूप में पहचान नहीं पाई थी जिनके आधार पर मनुष्य को बोलना चाहिए, यदि उसे समझदारी से बोलना है; जिन पर, विचार के नियमों के रूप में, उसे सोचना चाहिए, यदि उसे सही ढंग से सोचना है; और जिन पर, नैतिकता के नियमों के रूप में, उसे कार्य करना चाहिए, यदि उसे वैसे कार्य करना है जैसे उसे करना चाहिए।

हालाँकि इन नियमों को पहचानने में उन्हें हज़ारों साल लग गए, फिर भी ये हमेशा वे नियम थे जिनके आधार पर उन्हें सोचना, बोलना और कार्य करना था, और उन्होंने वास्तव में सोचा, बोला और कार्य किया, बशर्ते कि उन्होंने ऐसा सही ढंग से किया हो। इसलिए, जब हम विचार, वाणी और कर्म के विकास की बात करते हैं, तो हमारा यह मतलब नहीं हो सकता कि विचार के नियम, उदाहरण के लिए, शुरुआत में आज के नियमों से भिन्न थे, और धीरे-धीरे ही वे वर्तमान जैसे बने।

[153]

यह ठीक वैसा ही होगा जैसे यह कहना कि गुरुत्वाकर्षण का नियम न्यूटन द्वारा वर्णित तरीके से तब तक कार्य नहीं करता था जब तक न्यूटन ने इस नियम का प्रतिपादन नहीं किया। तथ्य यह है कि विज्ञान का भी विकास होता है, जैसे विचार, वाणी और कर्म का होता है। मनुष्य धीरे-धीरे और अत्यधिक प्रयास से विज्ञान के नियमों की खोज करता है, जैसे वह विचार, वाणी और कर्म के नियमों की खोज करता है। किसी भी स्थिति में वह नियम नहीं बनाता; दोनों ही स्थितियों में वह केवल यह पहचानता है कि वे मौजूद हैं। लेकिन यह पहचान एक प्रक्रिया है, एक धीमी प्रक्रिया, जिसके साथ कई गलतियाँ और असफलताएँ होती हैं। और मूलभूत नियमों, या प्रथम सिद्धांतों की क्रमिक पहचान या खोज की यह धीमी प्रक्रिया ही वह प्रक्रिया है जिसमें विज्ञान का विकास, साथ ही विचार, वाणी और कर्म का विकास शामिल है। यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा वे नियम जो मनुष्य के विचार, वाणी और कर्म के मूल में हैं, और उनके लिए मूलभूत हैं, चेतना की सतह पर उभरने लगते हैं।

इसी प्रक्रिया में धर्म का विकास निहित है। यह धर्म के मूल विचार—ईश्वर के विचार—की धीमी प्रक्रिया, क्रमिक पहचान है, जो धार्मिक चेतना की सतह पर उभरती है। जिस प्रकार विचार, वाणी और कर्म के नियम सही विचार,

वाणी या कर्म की अवधारणा से ही निहित होते हैं, उसी प्रकार ईश्वर का विचार धर्म की अवधारणा मात्र से ही निहित है। यह सदैव निहित है; यह प्रारंभ से ही अंतर्निहित है।

[154]

शुरुआत। यह धीरे-धीरे और अपूर्ण रूप से प्रकट होता है। प्रकटीकरण की प्रक्रिया, जो विचार का विकास है, कई उदाहरणों में, बहुत प्रारंभिक अपूर्णता के चरण में ही रुक सकती है, उन कारणों से जो उस दिशा में आगे विकास को असंभव बना देते हैं; और फिर, यदि आगे प्रगति करनी है, तो एक नई दिशा में एक नया आंदोलन करना होगा। जिस प्रकार मनुष्य हमेशा सही ढंग से नहीं सोचते, या सही ढंग से कार्य नहीं करते, हालाँकि वे अलग-अलग स्तरों पर ऐसा करने की प्रवृत्ति रखते हैं; उसी प्रकार, धर्म में भी, वे हमेशा सही दिशा में नहीं बढ़ते, भले ही वे आगे बढ़ते ही हों। वे कभी-कभी धर्म में भी बिगड़ सकते हैं, जैसे कभी-कभी नैतिकता में भी। लेकिन इस निस्संदेह तथ्य से यह निष्कर्ष निकालना आवश्यक नहीं है कि नैतिकता या धर्म के कोई सिद्धांत नहीं हैं। हम तर्क या व्याकरण के नियमों के अस्तित्व को नकारने के लिए प्रेरित नहीं होते, क्योंकि हम और दूसरे अक्सर उनकी अवहेलना करते हैं।

नैतिकता के सिद्धांतों, या यूँ कहें कि किसी विशेष सिद्धांत को, किसी समुदाय द्वारा, अपने इतिहास के किसी चरण में, पूरी तरह से गलत समझा जा सकता है, इस प्रकार कि किसी विशेष प्रकार के कार्यों की वह निंदा नहीं करता। इस प्रकार प्रदर्शित निर्णय और भावना की असंगति कम असंगत नहीं है क्योंकि यह लगभग, यदि पूरी तरह से नहीं, तो अचेतन होती है। इसी प्रकार कोई समुदाय धर्म के किसी सिद्धांत को पहचानने में विफल हो सकता है, या ईश्वर की अवधारणा की गलत व्याख्या कर सकता है; फिर भी यह तथ्य कि वे इसकी गलत व्याख्या करते हैं, इस बात का प्रमाण है कि उन्होंने

[155]

यदि उनके पास यह नहीं होता, तो वे इसकी अलग-अलग तरह से व्याख्या नहीं कर सकते थे। और ये अलग-अलग व्याख्याएँ ही इसके विकास के विभिन्न तरीके हैं। इसका विकास एक सतत रेखा में नहीं है, बल्कि एक ही केंद्र से विकीर्ण होता है, और बिखरा हुआ है। यही कारण है कि धार्मिक आंदोलनों के प्रवर्तक और धर्मों के संस्थापक, स्वयं को एक नई शुरुआत करने के बजाय, पुरानी स्थिति को पुनर्स्थापित करने वाला मानते हैं; एक नया धर्म शुरू करने के बजाय, पुराने धर्म की ओर लौटने वाला मानते हैं। लेकिन वास्तव में वे धर्म के इतिहास में किसी बीते हुए चरण की ओर नहीं लौट रहे हैं; वे धर्म के मूल सिद्धांतों से नए सिरे से शुरुआत कर रहे हैं। धर्म के केंद्रीय विचार, ईश्वर के विचार से, वे अब तक अपनाई गई किसी भी दिशा से अलग दिशा में आगे बढ़ते हैं। एकेश्वरवाद समय के साथ बहुदेववाद का अनुसरण कर सकता है, लेकिन यह किसी अन्य नाम के तहत बहुदेववाद नहीं है, ठीक उसी तरह जैसे प्रार्थना किसी अन्य नाम के तहत नहीं की जाती है। यह कुछ बहुत अलग है: यह बहुदेववाद का निषेध है, उसका दूसरा रूप नहीं। यह बहुदेववाद की जड़ों पर प्रहार करता है; और ऐसा इसलिए होता है क्योंकि यह बहुदेववाद की ओर नहीं, बल्कि उस विचार की ओर जाता है जिससे बहुदेववाद का उद्भव होता है, अर्थात् ईश्वर का विचार; और उससे एक ऐसी दिशा में प्रस्थान करता है जो ईश्वर के विचार की एक बिल्कुल अलग अभिव्यक्ति की ओर ले जाती है। और यदि एकेश्वरवाद बहुदेववाद का स्थान लेता है, तो ऐसा इसलिए होता है क्योंकि अनुभव से यह ईश्वर के उस विचार की अधिक विश्वसनीय व्याख्या प्रतीत होती है जो

[156]

यहाँ तक कि बहुदेववादी की आत्मा में भी यही भाव होता है। इसी प्रकार, और उन्हीं कारणों से, बहुदेववाद किसी अन्य नाम से बुतपरस्ती नहीं है। किसी समुदाय के देवता व्यक्तियों के बुतपरस्ती नहीं होते। उनके बीच का अंतर केवल नाम का अंतर नहीं है। बहुदेववाद, समय के क्रम में, बुतपरस्ती का अनुसरण कर सकता है या नहीं भी कर

सकता है; लेकिन बहुदेववाद केवल बुतपरस्ती का एक रूप नहीं है। ये दोनों ईश्वर के एक ही मूल विचार की भिन्न, और अधिकांशतः असंगत, व्याख्याएँ या गलत व्याख्याएँ हैं। ये अलग-अलग दिशाओं में चलते हैं, और जिन समुदायों में ये पाए जाते हैं, वे इन्हें बहुत अलग-अलग उद्देश्यों की ओर जाते हुए महसूस करते हैं—एक समुदाय की भलाई के लिए, दूसरा, अपनी सबसे विशिष्ट अभिव्यक्तियों में, समुदाय की हानि के लिए। बुतपरस्ती और बहुदेववाद में हम विकास की विकिरणकारी, फैलावकारी शक्ति को प्रकट होते हुए देखते हैं, ठीक वैसे ही जैसे बहुदेववाद और एकेश्वरवाद में। विकास की विभिन्न रेखाएँ अलग-अलग दिशाओं में फैलती हैं, लेकिन वे सभी रेखाएँ फैलाव के एक ही केंद्र की ओर इशारा करती हैं—ईश्वर की अवधारणा। लेकिन बुतपरस्ती, बहुदेववाद और एकेश्वरवाद, एक ही दिशा में चलने वाली विकास की एक ही रेखा के अलग-अलग और क्रमिक चरण नहीं हैं। ये अलग-अलग लंबाई की रेखाएँ हैं, जो अलग-अलग दिशाओं में गति करती हैं, हालाँकि एक ही केंद्र—मानव आत्मा—से निकलती हैं। चूँकि इनका एक ही केंद्र है, इसलिए मनुष्य, चाहे उसने किसी भी रेखा का अनुसरण किया हो, उस पर वापस लौट सकता है और नई शुरुआत कर सकता है।

[157]

यह तथ्य कि मनुष्य तार्किक भ्रांतियों का शिकार होते हैं, तर्क के सिद्धांतों की वैधता में हमारे विश्वास को नहीं हिलाता; न ही यह तथ्य कि मानवता के पैमाने पर हम जितने नीचे उतरते हैं, झूठे तर्क उतने ही अधिक होते जाते हैं, हमें यह विश्वास दिलाता है कि तर्क के सिद्धांत अमान्य और अस्तित्वहीन हैं। हम यह तो और भी कम मानते हैं कि चूँकि अपरिपक्व मन अक्सर गलत तर्क करते हैं, इसलिए सही तर्क सभी मनुष्यों के लिए असंभव और विरोधाभासी है। और ये विचार धर्म के सिद्धांतों और ईश्वर के विचार पर भी उसी तरह लागू होते हैं जैसे तर्क के सिद्धांतों पर। फिर भी हमें कभी-कभी यह मानने के लिए प्रेरित किया जाता है कि धार्मिक भ्रांतियों, या भ्रामक धर्मों का अस्तित्व ही यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि धर्म के सिद्धांतों में कोई वैधता नहीं है, ईश्वर के विचार में कोई वास्तविकता नहीं है; क्योंकि मानवजाति की अशिक्षित प्रजातियाँ धर्म में भ्रांतियों का शिकार हैं, इसलिए धर्म में कोई सत्य नहीं है: सभ्य मानवजाति का धर्म सभ्य वेश में प्रच्छन्न असभ्य लोगों की भ्रांतियों से बना है। जहाँ तक इस दृष्टिकोण को धर्म के विकास के अध्ययन का परिणाम माना जाता है, यह संभवतः विकास की उस अवधारणा के कारण है जिससे यह आगे बढ़ता है। यह इस धारणा पर आधारित है कि विकास की प्रक्रिया एक ही सतत रेखा की निरंतरता को प्रदर्शित करती है। यह विभिन्न रेखाओं में विकास की विकिरणात्मक, विक्षेपकारी गति की उपेक्षा करता है; और

[158]

यह इस तथ्य की अनदेखी करता है कि धर्म के सभी नए रूप पुनर्जन्म, पुनर्जागरण हैं, और एक-दूसरे से नहीं, बल्कि मनुष्य की आत्मा से उत्पन्न होते हैं, जिसमें ईश्वर का विचार निहित है। यह न केवल यह मानता है कि त्रुटियाँ हैं, बल्कि यह भी मानता है कि धर्म के निम्नतम या प्रारंभिक रूपों में कोई सत्य नहीं है; और इसलिए उच्चतम रूप में भी कोई सत्य नहीं है। लेकिन यह धारणा, यदि विचार, वाणी या कर्म के सिद्धांतों पर लागू की जाए, तो विचार को तर्कहीन, वाणी को अबोधगम्य और नैतिक कर्म को बेतुका सिद्ध करेगी; और विकास वह प्रक्रिया होगी जिसके द्वारा इस मूलभूत तर्कहीनता, अबोधगम्यता और बेतुकेपन को दूर किया जाएगा।

या तो यही निष्कर्ष है, या फिर कोई ऐसा उपाय ढूँढ़ना होगा जिससे धर्म के विकास को विचार, वाणी और नैतिकता के विकास से अलग किया जा सके, और यह दर्शाया जा सके कि—जबकि विचार, वाणी और नैतिकता के मामले में, विकास वह प्रक्रिया है जिसमें वे सिद्धांत जिनके आधार पर मनुष्य को सोचना, बोलना और कार्य करना चाहिए, स्वयं को अधिकाधिक स्पष्टता के साथ प्रकट करते हैं—धर्म के मामले में, ऐसा कोई प्रगतिशील रहस्योद्घाटन नहीं है, और न ही कोई पहला सिद्धांत, या मौलिक विचार है, जिसे सभी प्रकार के धर्म व्यक्त करना चाहते हैं। लेकिन इसे दर्शाने का कोई भी प्रयास निरर्थक है: धर्म का विज्ञान प्रारंभ से ही विभिन्न मानव जातियों के

अपने देवताओं के बारे में विचारों का पता लगाने और उनकी तुलना करने में लगा हुआ है; और ईश्वर के विचार के विकास का पता लगाने में लगा हुआ है।

[159]

हालाँकि, यह कहा जा सकता है कि धर्म का विज्ञान केवल विकास से संबंधित है, और विचार के मूल्य या वैधता से ज़रा भी संबंधित नहीं है। लेकिन हमें यह याद रखना चाहिए कि न तो इसका संबंध इसके मूल्य पर विवाद करने से है और न ही इसकी वैधता को नकारने से; और कोई भी व्यक्ति इस स्थापित तथ्य से अपने निष्कर्ष निकालने से नहीं बच सकता कि यह विचार जहाँ कहीं भी मनुष्य पाया जाता है, वहाँ पाया जाता है। हालाँकि, यदि ईश्वर के विचार से हमारा तात्पर्य केवल एक बौद्धिक विचार, केवल एक शाब्दिक प्रस्तावना है, तो हम गलत निष्कर्ष निकालने के खतरे में होंगे। धर्म का इतिहासकार, ईश्वर के विचार, उसकी अभिव्यक्तियों और उसके विकास पर चर्चा करते समय, स्वयं को शब्दों में व्यक्त करने और अपनी बात को शाब्दिक प्रस्तावों की एक श्रृंखला में सीमित करने के लिए बाध्य है। इसलिए, यह कल्पना करने से अधिक स्वाभाविक कुछ भी नहीं है कि ईश्वर का विचार एक शाब्दिक, बौद्धिक प्रस्तावना है; और इससे अधिक भ्रामक कुछ भी नहीं है। यदि हम इस भ्रामक धारणा से शुरू करते हैं, तो, चूँकि शब्द केवल शब्द हैं, हम यह कल्पना करने के लिए प्रेरित हो सकते हैं कि ईश्वर का विचार शब्दों से अधिक या भिन्न कुछ नहीं है: यह केवल शब्द हैं। लेकिन अगर यह निष्कर्ष किसी भी कारण से हमें अप्रिय लगे, और अगर हम इस धारणा पर अड़े रहें कि ईश्वर का विचार एक मौखिक प्रस्ताव है, तो स्वाभाविक रूप से हम ईश्वर के विचार और ईश्वर के अस्तित्व के बीच एक अंतर करेंगे; और इस प्रकार ईश्वर के विचार और अस्तित्व के बीच एक बड़ी खाई तय कर लेने के बाद, हमें उसे पाटने में कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। तब हम इसे केवल ईश्वर का विचार ही नहीं, बल्कि ईश्वर का विचार भी मान सकते हैं।

[160]

तार्किक रूप से खाई के दूसरी ओर पहुँचना कठिन ही नहीं, असंभव भी है; अर्थात्, हम यह निष्कर्ष निकालेंगे कि ईश्वर का अस्तित्व एक अनुमान है, लेकिन एक ऐसा अनुमान जिसकी तार्किक रूप से कभी पुष्टि नहीं की जा सकती: अनुमान सही या गलत हो सकता है, लेकिन हम यह नहीं जान सकते कि वह कौन सा है। ईश्वर के विचार से हम कभी भी तार्किक रूप से उसके अस्तित्व का अनुमान नहीं लगा सकते। चूँकि तब कोई भी तर्क हमें उस खाई को पार नहीं ले जा सकेगा जो हमने इस विचार और ईश्वर के अस्तित्व के बीच बनाई है, अगर हमें इसे पार करना है, तो हमें इसे लांघना होगा: हमें विश्वास की छलांग लगानी होगी, हमें इस मार्ग को संभव मानना होगा, सिर्फ़ इसलिए कि यह असंभव है। और जो छलांग लगाते हैं, वे सुरक्षित उतरते हैं—हमारे पास इसकी उनकी अपनी गवाही है—उतनी ही सुरक्षित जैसे, किंग लियर में , ग्लूसेस्टर डोवर की चट्टान से छलांग लगाता है; और वे

'सोचो कि सबसे स्पष्ट देवता, जो उन्हें सम्मान देते हैं

मनुष्य की असंभवताओं को, संरक्षित रखा है।'

लेकिन, ग्लूसेस्टर के मामले में, न तो कोई चट्टान थी और न ही कोई खाई; और, हमारे मामले में, यह जानना उचित होगा कि क्या ईश्वर के विचार और अस्तित्व के बीच की गहरी खाई, उस खाई से ज़्यादा वास्तविक है जिसमें ग्लूसेस्टर ने खुद को झोंक दिया था। यह पूर्वधारणा कि ईश्वर का विचार एक मात्र शाब्दिक प्रस्तावना है, उतनी ही काल्पनिक पूर्वधारणा हो सकती है जितनी कि वह पूर्वधारणा जिससे ग्लूसेस्टर ने छलांग लगाई थी। यदि ईश्वर का विचार केवल शब्दों में एक प्रस्तावना है, और यदि शब्द केवल शब्द हैं,

[161]

तो विचार और सत्ता के बीच की खाई वास्तविक है। यदि ईश्वर का अस्तित्व ईश्वर के विचार से एक अनुमान है, तो यह केवल एक अनुमान है, और एक ऐसा अनुमान जिसका कोई तार्किक मूल्य नहीं है। और यही बात किसी भी परिमित वैयक्तिक सत्ता के मामले में भी उतनी ही सत्य है: यदि हमारे पड़ोसियों का अस्तित्व उनके बारे में हमारे द्वारा बनाए गए विचार से एक अनुमान होता, तो यह भी एक ऐसा अनुमान होता जिसका कोई तार्किक मूल्य नहीं होता। लेकिन, सौभाग्य से, उनका अस्तित्व हमारे द्वारा उनके बारे में बनाए गए विचार पर निर्भर नहीं करता: यह आंशिक रूप से उनके बारे में हमारे विचार में स्वयं को हमारे सामने प्रकट करता है, और आंशिक रूप से इसके द्वारा अस्पष्ट होता है। यह हमारे अनुभव का एक तथ्य है, या हमारे द्वारा अनुभव किया गया एक तथ्य है। हम इसकी व्याख्या करते हैं, और कुछ हद तक इसकी गलत व्याख्या करते हैं, जैसा कि हम अन्य सभी तथ्यों के साथ करते हैं। यदि इस आंशिक रूप से सत्य और आंशिक रूप से असत्य व्याख्या से हमारा तात्पर्य 'विचार' शब्द से है, तो यह विचार हमारे पड़ोसी के अस्तित्व से एक अनुमान है—एक अनुमान जिसकी पुष्टि निकट परिचय से हो सकती है—लेकिन हमें पहले उसका विचार नहीं आता, और फिर हम यह नहीं सोचते कि क्या कोई ऐसा अस्तित्व है, जो कमोबेश उस विचार के अनुरूप हो। यदि हमें अपने साथियों का विचार पहले होता—उनके अनुभव से पहले—यदि हमें विचार के किनारे से छलांग लगानी होती, तो हम यथोचित रूप से संशय में पड़ सकते थे कि क्या हमें स्वयं को ऐसे तार्किक, या यूँ कहें कि ऐसे अतार्किक, रसातल में फेंकना चाहिए। लेकिन हम उनके एक अनुभवजन्य तथ्य के रूप में अस्तित्व से ही शुरुआत करते हैं; और उससे एक ऐसे तार्किक विचार का निर्माण करने के इरादे से जो हमारे भीतर निहित है।

[162]

शक्ति। अनुमान वह नहीं है जो अस्तित्व है, बल्कि विचार है, जहाँ तक विचार इस प्रकार निर्मित होता है।

इस प्रकार निर्मित विचार सही या गलत तरीके से निर्मित हो सकता है। यह सही है या गलत, यह आगे के अनुभव से तय होता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि सबसे पहले, केवल आगे के अनुभव से, व्यक्तिगत अनुभव से ही हम यह निर्धारित कर सकते हैं कि हमने जो निर्माण किया है वह कितना सही है या नहीं; और, दूसरी बात, जहाँ तक हमने जो निर्माण किया है वह सही है, अर्थात् वास्तविक अनुभव द्वारा पुष्टि की गई है, इससे यह सिद्ध होता है कि यह अनुमान नहीं है - भले ही यह अनुमान की प्रक्रिया द्वारा पहुँचा गया हो - बल्कि एक तथ्य है। अनुमान की प्रक्रिया की तुलना उस पथ से की जा सकती है जिस पर हम संघर्ष करते हुए एक चट्टान की सतह पर चढ़ते हैं: यह वह पथ है जिससे हम वहाँ पहुँचते हैं, लेकिन यह वह दृढ़ आधार नहीं है जिस पर अंततः हम विश्राम करते हैं। पथ वह नहीं है जो चट्टान को थामे रहता है; न ही अनुमान वह है जिस पर ईश्वर का अस्तित्व टिका है। ईश्वर का अस्तित्व कोई अनुमानित वस्तु नहीं, बल्कि अनुभव की वस्तु है। अनुभव से—स्वयं के या दूसरों के अनुभव से—हम यह पता लगाते हैं कि अनुमान से हम जिस चीज़ की अपेक्षा कर रहे थे, क्या वह वास्तव में ऐसी चीज़ है जिसका हम—यदि हम चाहें—अनुभव कर सकते हैं। और जो अनुभव किया जाता है, वह अनुभव होते ही अनुमानात्मक होना बंद हो जाता है। अनुभव ही तथ्य है: शब्दों में उसका कथन ही सत्य है। परंतु

[163]

अनुभव के बिना, जिन शब्दों में यह कहा गया है वे केवल शब्द हैं; और अनुभव के बिना, शब्द हमेशा के लिए शब्द ही रहेंगे और शब्दों से अधिक कुछ नहीं होंगे।

यदि ईश्वर के विचार से हमारा तात्पर्य उन शब्दों से है, जिनमें इसे (अपर्याप्त रूप से) कहा गया है, और कुछ नहीं, तो ईश्वर का विचार ईश्वर की सत्ता से एक अटूट खाई द्वारा अलग हो जाता है। इसके अतिरिक्त, यदि हम स्वीकार करते हैं कि यह विचार, अपने स्वभाव से, और मामले के तथ्यों से, ईश्वर की सत्ता से अनिवार्य रूप से भिन्न है, तो

यह कहना निरर्थक है कि ईश्वर की सत्ता मानवीय अनुभव का एक तथ्य है। उस स्थिति में, अनुभव का कथित तथ्य किसी ऐसी चीज़ में सिमट जाता है जिसके बारे में न तो हमारे पास कोई विचार, न ही चेतना, कुछ भी हो सकती है। इस प्रकार यह अनुभव का एक तथ्य होना ही समाप्त हो जाता है। और ठीक इसी धारणा पर ईश्वर की सत्ता को अनुभव का एक तथ्य होने से नकार दिया जाता है—यह धारणा कि सत्ता और विचार एक दूसरे से एक अटूट खाई द्वारा अलग हैं: विचार के प्रति हम सचेत हो सकते हैं, लेकिन ईश्वर की सत्ता का हम कोई अनुभव नहीं कर सकते। इसलिए हमें यह नहीं पूछना चाहिए कि क्या यह खाई अगम्य है, बल्कि यह पूछना चाहिए कि क्या यह वास्तव में मौजूद है, या क्या यह उसी काल्पनिक प्रकृति की है, जिसकी ओर एडगर ने ग्लूसेस्टर को ले जाया था।

यह कि ऐसे प्राणी हो सकते हैं जिनके बारे में हमें कोई जानकारी नहीं है, एक ऐसा प्रस्ताव है जिसका खंडन करना असंभव है। ऐसे प्राणी पूर्व-परिकल्पना नहीं होंगे।

[164]

हमारे अनुभव का एक हिस्सा; और यदि ईश्वर ऐसा कोई अस्तित्व होता, तो मनुष्य को उसका कोई अनुभव न होता। और, उसका कोई अनुभव न होने पर, मनुष्य को उसका कोई बोध भी नहीं हो सकता था। परन्तु मनुष्य को उन अस्तित्वों का जो वह जानता है, अनुभव एक ऐसा अनुभव है जिसमें विचार और सत्ता एक साथ दिए गए हैं। यदि विचार में हम दोनों पहलुओं में से किसी एक पर ध्यान दें, न कि दूसरे पर, तो भी विचार सत्ता का विचार ही है; और सत्ता विचार की सत्ता ही है। वास्तविक अनुभव के क्षण में, दोनों के बीच एक अटूट खाई होने के बजाय, दोनों अविभाज्य हैं। चिंतन के क्षणों में ही वे पृथक् और पृथक् प्रतीत होते हैं, क्योंकि स्मृति तब भी बनी रहती है, जब वास्तविक अनुभव समाप्त हो जाता है। तब हमें केवल स्मृति को विचार कहना होता है, और तब शब्द के इस प्रयोग में, विचार उस विचार से उतना ही मूलतः भिन्न होता है, जितना कि किसी सत्ता या वस्तु की स्मृति स्वयं सत्ता या वस्तु से होती है। यदि हम स्मृति को शब्दों में पिरोते हैं, और उन शब्दों को किसी दूसरे को सुनाते हैं, तो हम उसे अपने अनुभव के बारे में जो याद है (संशोधित—शायद रूपांतरित—उस पर हमारे चिंतन द्वारा) बताते हैं, लेकिन हम वास्तविक अनुभव नहीं बता पाते, क्योंकि हम ऐसा नहीं कर सकते। हम जो बताते हैं, वह उसे स्वयं वास्तविक अनुभव की ओर ले जा सकता है; लेकिन वह स्वयं अनुभव नहीं है। स्मृति, हममें या उन लोगों में, जिनसे हम संवाद करते हैं, अपेक्षा को जन्म दे सकती है।

[165]

और प्रत्याशा; और प्रत्याशा के साकार होने की संभावना जितनी अधिक होती है, स्मृति का प्रतिबिंबन द्वारा रूपांतरण उतना ही कम होता है। लेकिन, स्मृति और प्रत्याशा दोनों ही वास्तविक अनुभव से स्पष्ट रूप से भिन्न हैं। यह तभी संभव है जब उन्हें वास्तविक अनुभव के एक पहलू—जिसे हमने विचार कहा है—के साथ भ्रमित किया जाए, तभी विचार को उस सत्ता से पृथक माना जाता है जिसका हम वास्तविक अनुभव करते हैं। विचार अनुभव का हिस्सा है; स्मृति स्पष्ट रूप से नहीं है।

यदि यह कहा जाए कि ईश्वर का अस्तित्व सदैव एक अनुमान है और इससे अधिक कुछ नहीं है, तो इसका उत्तर यह है कि किसी भी चीज़ का अस्तित्व, चाहे वह स्मरणीय हो या अपेक्षित हो, स्मृति या प्रत्याशा के क्षण में अनुमानात्मक होता है; किन्तु वास्तविक अनुभव के क्षण में, वह अनुमान नहीं होता—वह अनुभव किया जाता है। और जो अनुभव किया जाता है, वह, और आरंभ से ही, निम्नतर तथा उच्चतर संस्कृति के धर्मों में, ईश्वर का अस्तित्व और विचार दोनों ही रहा है।

[166]

[167]

कैम्ब्रिज: यूनिवर्सिटी प्रेस में जॉन क्ले, एमए द्वारा मुद्रित।

*** प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग ईबुक का अंत प्रारंभिक धर्मों में ईश्वर का विचार ***

अद्यतन संस्करण पिछले संस्करण का स्थान ले लेंगे - पुराने संस्करणों का नाम बदल दिया जाएगा।

अमेरिकी कॉपीराइट कानून द्वारा संरक्षित नहीं किए गए मुद्रित संस्करणों से कृतियाँ बनाने का अर्थ है कि इन कृतियों पर किसी का भी संयुक्त राज्य अमेरिका का कॉपीराइट नहीं है, इसलिए फ़ाउंडेशन (और आप!) बिना अनुमति और कॉपीराइट रॉयल्टी का भुगतान किए संयुक्त राज्य अमेरिका में इनकी प्रतिलिपि बनाकर वितरित कर सकते हैं। इस लाइसेंस के "उपयोग की सामान्य शर्तें" भाग में निर्धारित विशेष नियम, प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ की अवधारणा और ट्रेडमार्क की सुरक्षा के लिए प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ इलेक्ट्रॉनिक कृतियों की प्रतिलिपि बनाकर वितरित करने पर लागू होते हैं। प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग एक पंजीकृत ट्रेडमार्क है, और यदि आप किसी ई-पुस्तक के लिए शुल्क लेते हैं, तो इसका उपयोग ट्रेडमार्क लाइसेंस की शर्तों का पालन करने के अलावा नहीं किया जा सकता है, जिसमें प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग ट्रेडमार्क के उपयोग के लिए रॉयल्टी का भुगतान करना भी शामिल है। यदि आप इस ई-पुस्तक की प्रतियों के लिए कोई शुल्क नहीं लेते हैं, तो ट्रेडमार्क लाइसेंस का पालन करना बहुत आसान है। आप इस ई-पुस्तक का उपयोग लगभग किसी भी उद्देश्य के लिए कर सकते हैं, जैसे व्युत्पन्न कृतियों का निर्माण, रिपोर्ट, प्रदर्शन और शोध। प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग ई-पुस्तकों को संशोधित, मुद्रित और वितरित किया जा सकता है—आप संयुक्त राज्य अमेरिका में उन ई-पुस्तकों के साथ लगभग कुछ भी कर सकते हैं जो अमेरिकी कॉपीराइट कानून द्वारा संरक्षित नहीं हैं। पुनर्वितरण ट्रेडमार्क लाइसेंस के अधीन है, विशेष रूप से वाणिज्यिक पुनर्वितरण।

प्रारंभ: पूर्ण लाइसेंस

पूर्ण प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग लाइसेंस

कृपया इस कार्य को वितरित या उपयोग करने से पहले इसे पढ़ें

इलेक्ट्रॉनिक कार्यों के मुफ्त वितरण को बढ़ावा देने के प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ मिशन की सुरक्षा के लिए, इस कार्य (या “प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग” वाक्यांश के साथ किसी भी तरह से जुड़े किसी अन्य कार्य) का उपयोग या वितरण करके, आप इस फ़ाइल के साथ या www.gutenberg.org/license पर ऑनलाइन उपलब्ध पूर्ण प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ लाइसेंस की सभी शर्तों का पालन करने के लिए सहमत हैं।

खंड 1. उपयोग की सामान्य शर्तें और प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ इलेक्ट्रॉनिक कार्यों का पुनर्वितरण

1.A. इस प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ इलेक्ट्रॉनिक कार्य के किसी भी भाग को पढ़कर या उपयोग करके, आप दर्शाते हैं कि आपने इस लाइसेंस और बौद्धिक संपदा (ट्रेडमार्क/कॉपीराइट) समझौते की सभी शर्तों को पढ़ लिया है, समझ लिया है, उनसे सहमत हैं और उन्हें स्वीकार करते हैं। यदि आप इस समझौते की सभी शर्तों का पालन करने के लिए सहमत नहीं हैं, तो आपको अपने पास मौजूद प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ इलेक्ट्रॉनिक कार्यों की सभी प्रतियों का उपयोग बंद कर देना चाहिए और उन्हें वापस कर देना चाहिए या नष्ट कर देना चाहिए। यदि आपने प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ इलेक्ट्रॉनिक कार्य की प्रति प्राप्त करने या उस तक पहुँच प्राप्त करने के लिए शुल्क का भुगतान किया है और आप इस समझौते की शर्तों से बाध्य होने के लिए सहमत नहीं हैं, तो आप उस व्यक्ति या संस्था से, जिसे आपने शुल्क का भुगतान किया था, अनुच्छेद 1.E.8 में निर्धारित अनुसार धनवापसी प्राप्त कर सकते हैं।

1.B. "प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग" एक पंजीकृत ट्रेडमार्क है। इसका उपयोग या किसी भी तरह से संबद्धता केवल उन्हीं लोगों द्वारा की जा सकती है जो इस समझौते की शर्तों से बंधे होने के लिए सहमत हैं। इस समझौते की पूरी शर्तों का पालन किए बिना भी आप अधिकांश प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ इलेक्ट्रॉनिक कार्यों के साथ कुछ बदलाव कर सकते हैं। नीचे पैराग्राफ 1.C देखें। यदि आप इस समझौते की शर्तों का पालन करते हैं और भविष्य में प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ इलेक्ट्रॉनिक कार्यों तक मुफ़्त पहुँच बनाए रखने में मदद करते हैं, तो आप प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ इलेक्ट्रॉनिक कार्यों के साथ बहुत कुछ कर सकते हैं। नीचे पैराग्राफ 1.E देखें।

1.सी. प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग लिटरेरी आर्काइव फ़ाउंडेशन ("फ़ाउंडेशन" या PGLAF), प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ इलेक्ट्रॉनिक कृतियों के संग्रह का एक संकलन कॉपीराइट रखता है। इस संग्रह की लगभग सभी कृतियाँ संयुक्त राज्य अमेरिका में सार्वजनिक डोमेन में हैं। यदि कोई कृति संयुक्त राज्य अमेरिका के कॉपीराइट कानून द्वारा असुरक्षित है और आप संयुक्त राज्य अमेरिका में रहते हैं, तो हम आपको उस कृति की प्रतिलिपि बनाने, वितरित करने, प्रदर्शन करने, प्रदर्शित करने या उस पर आधारित व्युत्पन्न कृतियाँ बनाने से रोकने का अधिकार नहीं रखते, बशर्ते कि प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग के सभी संदर्भ हटा दिए जाएँ। बेशक, हम आशा करते हैं कि आप प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ नाम को कृति से जुड़े रखने के इस समझौते की शर्तों के अनुसार, प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ कृतियों को स्वतंत्र रूप से साझा करके इलेक्ट्रॉनिक कृतियों तक मुफ्त पहुँच को बढ़ावा देने के प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ मिशन का समर्थन करेंगे। आप इस कृति को उसी प्रारूप में, इसके साथ संलग्न पूर्ण प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ लाइसेंस के साथ, दूसरों के साथ बिना किसी शुल्क के साझा करके इस समझौते की शर्तों का आसानी से पालन कर सकते हैं।

1.डी. आप जिस स्थान पर स्थित हैं, वहाँ के कॉपीराइट कानून भी इस कार्य के साथ आप क्या कर सकते हैं, इसे नियंत्रित करते हैं। अधिकांश देशों में कॉपीराइट कानून निरंतर बदलते रहते हैं। यदि आप संयुक्त राज्य अमेरिका से बाहर हैं, तो इस कार्य या किसी अन्य प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ कार्य पर आधारित व्युत्पन्न कार्य डाउनलोड करने, कॉपी करने, प्रदर्शित करने, प्रदर्शन करने, वितरित करने या बनाने से पहले इस समझौते की शर्तों के अलावा अपने देश के कानूनों की भी जाँच करें। फ़ाउंडेशन संयुक्त राज्य अमेरिका के अलावा किसी भी देश में किसी भी कार्य की कॉपीराइट स्थिति के संबंध में कोई प्रतिनिधित्व नहीं करता है।

1.E. जब तक आपने प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग के सभी संदर्भ हटा नहीं दिए हैं:

1.E.1. जब भी किसी प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ कार्य (कोई भी कार्य जिस पर "प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग" वाक्यांश दिखाई देता है, या जिसके साथ "प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग" वाक्यांश जुड़ा हुआ है) की किसी भी प्रति तक पहुँचा, प्रदर्शित, निष्पादित, देखा, कॉपी या वितरित किया जाता है, तो निम्नलिखित वाक्य, पूर्ण प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ लाइसेंस के सक्रिय लिंक या अन्य तत्काल पहुँच के साथ, प्रमुखता से दिखाई देना चाहिए:

यह ई-पुस्तक संयुक्त राज्य अमेरिका और दुनिया के अधिकांश अन्य हिस्सों में कहीं भी किसी के भी उपयोग के लिए निःशुल्क और लगभग बिना किसी प्रतिबंध के उपलब्ध है। आप इस ई-पुस्तक के साथ दिए गए प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग लाइसेंस की शर्तों के तहत या www.gutenberg.org पर ऑनलाइन इसकी प्रतिलिपि बना सकते हैं, इसे दान कर सकते हैं या इसका पुनः उपयोग कर सकते हैं । यदि आप संयुक्त राज्य अमेरिका में नहीं रहते हैं, तो आपको इस ई-पुस्तक का उपयोग करने से पहले उस देश के कानूनों की जाँच करनी होगी जहाँ आप रहते हैं।

1.E.2. यदि कोई प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ इलेक्ट्रॉनिक कृति अमेरिकी कॉपीराइट कानून द्वारा संरक्षित नहीं किए गए पाठों से ली गई है (इसमें यह दर्शाने वाली कोई सूचना नहीं है कि यह कॉपीराइट धारक की अनुमति से प्रकाशित की गई है), तो उस कृति की प्रतिलिपि बनाकर संयुक्त राज्य अमेरिका में किसी को भी बिना किसी शुल्क या प्रभार के वितरित की जा सकती है। यदि आप किसी ऐसी कृति का पुनर्वितरण कर रहे हैं या उस तक पहुँच प्रदान कर रहे हैं

जिसके साथ या उस कृति पर "प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग" वाक्यांश जुड़ा हुआ है, तो आपको अनुच्छेद 1.E.1 से 1.E.7 तक की आवश्यकताओं का पालन करना होगा या अनुच्छेद 1.E.8 या 1.E.9 में वर्णित कृति और प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ ट्रेडमार्क के उपयोग के लिए अनुमति प्राप्त करनी होगी।

1.E.3. यदि कोई प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ इलेक्ट्रॉनिक कृति कॉपीराइट धारक की अनुमति से प्रकाशित की जाती है, तो आपके उपयोग और वितरण को अनुच्छेद 1.E.1 से 1.E.7 तक और कॉपीराइट धारक द्वारा लगाई गई किसी भी अतिरिक्त शर्तों का पालन करना होगा। कॉपीराइट धारक की अनुमति से प्रकाशित सभी कृतियों के लिए, अतिरिक्त शर्तें इस कृति के आरंभ में दी गई हैं, जो प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ लाइसेंस से जुड़ी होंगी।

1.E.4. इस कार्य से, या इस कार्य के किसी भाग वाली किसी भी फ़ाइल या Project Gutenberg™ से संबद्ध किसी अन्य कार्य से पूर्ण Project Gutenberg™ लाइसेंस शर्तों को अनलिंक या अलग या हटाएं नहीं।

1.E.5. इस इलेक्ट्रॉनिक कार्य या इसके किसी भी भाग को, पैराग्राफ 1.E.1 में दिए गए वाक्य को प्रमुखता से प्रदर्शित किए बिना, सक्रिय लिंक के साथ या प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ लाइसेंस की पूर्ण शर्तों तक तत्काल पहुंच के बिना कॉपी, प्रदर्शित, निष्पादित, वितरित या पुनर्वितरित न करें।

1.E.6. आप इस कार्य को किसी भी बाइनरी, संपीड़ित, चिह्नित, गैर-स्वामित्व या स्वामित्व वाले रूप में, किसी भी वर्ड प्रोसेसिंग या हाइपरटेक्स्ट रूप सहित, परिवर्तित और वितरित कर सकते हैं। हालाँकि, यदि आप Project Gutenberg™ कार्य की प्रतियों तक पहुँच प्रदान करते हैं या वितरित करते हैं, तो "प्लेन वेनिला ASCII" या आधिकारिक Project Gutenberg™ वेबसाइट (www.gutenberg.org) पर पोस्ट किए गए आधिकारिक संस्करण में प्रयुक्त किसी अन्य प्रारूप के अलावा, किसी अन्य प्रारूप में, आपको उपयोगकर्ता को बिना किसी अतिरिक्त लागत, शुल्क या व्यय के, कार्य की एक प्रति, प्रतिलिपि निर्यात करने का साधन, या अनुरोध पर प्रतिलिपि प्राप्त करने का साधन, उसके मूल "प्लेन वेनिला ASCII" या अन्य रूप में प्रदान करना होगा। किसी भी वैकल्पिक प्रारूप में अनुच्छेद 1.E.1 में निर्दिष्ट पूर्ण Project Gutenberg™ लाइसेंस शामिल होना चाहिए।

1.E.7. जब तक आप अनुच्छेद 1.E.8 या 1.E.9 का अनुपालन नहीं करते हैं, तब तक किसी भी प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ कार्य तक पहुँच, देखने, प्रदर्शित करने, प्रदर्शन करने, प्रतिलिपि बनाने या वितरित करने के लिए कोई शुल्क न लें।

1.E.8. आप प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ इलेक्ट्रॉनिक कार्यों की प्रतियों या उन तक पहुँच प्रदान करने या उन्हें वितरित करने के लिए उचित शुल्क ले सकते हैं, बशर्ते कि:

• आप प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ की कृतियों के उपयोग से प्राप्त सकल लाभ का 20% रॉयल्टी शुल्क अदा करते हैं, जिसकी गणना आपके द्वारा पहले से लागू करों की गणना के लिए उपयोग की जाने वाली विधि के अनुसार की जाती है। यह शुल्क प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ ट्रेडमार्क के स्वामी को देय है, लेकिन उन्होंने इस अनुच्छेद के अंतर्गत रॉयल्टी प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग लिटरेरी आर्काइव फ़ाउंडेशन को दान करने पर सहमति व्यक्त की है। रॉयल्टी का भुगतान प्रत्येक उस तिथि के बाद 60 दिनों के भीतर किया जाना चाहिए जिस दिन आप अपना आवधिक कर रिटर्न तैयार करते हैं (या कानूनी रूप से तैयार करने के लिए बाध्य हैं)। रॉयल्टी भुगतान स्पष्ट रूप से चिह्नित किया जाना चाहिए और प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग लिटरेरी आर्काइव फ़ाउंडेशन को अनुभाग 4, "प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग लिटरेरी आर्काइव फ़ाउंडेशन को दान के बारे में जानकारी" में निर्दिष्ट पते पर भेजा जाना चाहिए।

• आप उस उपयोगकर्ता द्वारा भुगतान की गई किसी भी राशि की पूरी वापसी प्रदान करते हैं जो प्राप्ति के 30 दिनों के भीतर आपको लिखित रूप से (या ईमेल द्वारा) सूचित करता है कि वह पूर्ण प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ लाइसेंस की

शर्तों से सहमत नहीं है। आपको ऐसे उपयोगकर्ता से यह अपेक्षा करनी होगी कि वह भौतिक माध्यम में मौजूद कृतियों की सभी प्रतियाँ वापस कर दे या नष्ट कर दे और प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ कृतियों की अन्य प्रतियों का उपयोग और उन तक पहुँच बंद कर दे।

• यदि इलेक्ट्रॉनिक कार्य में कोई दोष पाया जाता है और कार्य प्राप्ति के 90 दिनों के भीतर आपको सूचित किया जाता है, तो आप पैराग्राफ 1.एफ.3 के अनुसार, कार्य या प्रतिस्थापन प्रति के लिए भुगतान की गई किसी भी राशि की पूरी वापसी प्रदान करते हैं।

• आप प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ कार्यों के निःशुल्क वितरण के लिए इस समझौते की अन्य सभी शर्तों का अनुपालन करते हैं।

1.E.9. यदि आप इस अनुबंध में निर्धारित शर्तों से भिन्न शर्तों पर प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ इलेक्ट्रॉनिक कृति या कृतियों के समूह पर शुल्क लेना चाहते हैं या उसे वितरित करना चाहते हैं, तो आपको प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ ट्रेडमार्क के प्रबंधक, प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग लिटरेरी आर्काइव फ़ाउंडेशन से लिखित अनुमति लेनी होगी। नीचे अनुभाग 3 में दिए गए निर्देशों के अनुसार फ़ाउंडेशन से संपर्क करें।

1.एफ.

1.F.1. प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग के स्वयंसेवक और कर्मचारी, प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ संग्रह तैयार करते समय, अमेरिकी कॉपीराइट कानून द्वारा संरक्षित नहीं किए गए कार्यों की पहचान करने, उन पर कॉपीराइट अनुसंधान करने, उनका प्रतिलेखन करने और उनका प्रूफ़रीडिंग करने में काफ़ी प्रयास करते हैं। इन प्रयासों के बावजूद, प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ इलेक्ट्रॉनिक कार्यों और जिस माध्यम पर उन्हें संग्रहीत किया जा सकता है, उनमें "दोष" हो सकते हैं, जैसे कि, लेकिन इन्हीं तक सीमित नहीं, अधूरा, गलत या दूषित डेटा, प्रतिलेखन त्रुटियाँ, कॉपीराइट या अन्य बौद्धिक संपदा का उल्लंघन, कोई दोषपूर्ण या क्षतिग्रस्त डिस्क या अन्य माध्यम, कोई कंप्यूटर वायरस, या कंप्यूटर कोड जो आपके उपकरण को नुकसान पहुँचाते हैं या आपके उपकरण द्वारा पढ़े नहीं जा सकते।

1.F.2. सीमित वारंटी, क्षतिपूर्ति का अस्वीकरण - अनुच्छेद 1.F.3 में वर्णित "प्रतिस्थापन या धनवापसी के अधिकार" को छोड़कर, प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग लिटरेरी आर्काइव फ़ाउंडेशन, प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ ट्रेडमार्क का स्वामी, और इस अनुबंध के तहत प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ इलेक्ट्रॉनिक कृति वितरित करने वाला कोई भी अन्य पक्ष, कानूनी शुल्क सहित, क्षतिपूर्ति, लागत और व्यय के लिए आपके प्रति सभी दायित्वों से इनकार करता है। आप सहमत हैं कि अनुच्छेद 1.F.3 में दिए गए उपायों के अलावा, लापरवाही, सख्त दायित्व, वारंटी के उल्लंघन या अनुबंध के उल्लंघन के लिए आपके पास कोई उपाय नहीं है। आप सहमत हैं कि इस समझौते के तहत फाउंडेशन, ट्रेडमार्क स्वामी और कोई भी वितरक वास्तविक, प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष, परिणामी, दंडात्मक या आकस्मिक क्षति के लिए आपके प्रति उत्तरदायी नहीं होंगे, भले ही आप ऐसी क्षति की संभावना की सूचना दें।

1.F.3. प्रतिस्थापन या धन वापसी का सीमित अधिकार - यदि आपको इस इलेक्ट्रॉनिक कार्य में इसे प्राप्त करने के 90 दिनों के भीतर कोई दोष पता चलता है, तो आप उस व्यक्ति को लिखित स्पष्टीकरण भेजकर, जिससे आपने कार्य प्राप्त किया था, आपके द्वारा भुगतान की गई राशि (यदि कोई हो) वापस प्राप्त कर सकते हैं। यदि आपको कार्य किसी भौतिक माध्यम पर प्राप्त हुआ है, तो आपको अपने लिखित स्पष्टीकरण के साथ माध्यम वापस करना होगा। जिस व्यक्ति या संस्था ने आपको दोषपूर्ण कार्य प्रदान किया है, वह धन वापसी के बदले में एक प्रतिस्थापन प्रति प्रदान करने का विकल्प चुन सकता है। यदि आपको कार्य इलेक्ट्रॉनिक रूप से प्राप्त हुआ है, तो इसे आपको प्रदान करने वाला व्यक्ति या संस्था धन वापसी के बदले में आपको इलेक्ट्रॉनिक रूप से कार्य प्राप्त करने का दूसरा अवसर देने का विकल्प चुन सकता है। यदि दूसरी प्रति भी दोषपूर्ण है, तो आप समस्या को ठीक करने के लिए और

अवसर दिए बिना लिखित रूप में धन वापसी की मांग कर सकते हैं।

1.एफ.4. अनुच्छेद 1.एफ.3 में निर्धारित प्रतिस्थापन या धन वापसी के सीमित अधिकार को छोड़कर, यह कार्य आपको 'जैसा है' वैसा ही प्रदान किया जाता है, जिसमें किसी भी प्रकार की कोई अन्य वारंटी, व्यक्त या निहित नहीं है, जिसमें किसी भी उद्देश्य के लिए व्यापारिकता या उपयुक्तता की वारंटी शामिल है, लेकिन उस तक सीमित नहीं है।

1.F.5. कुछ राज्य कुछ निहित वारंटियों के अस्वीकरण या कुछ प्रकार के नुकसानों के बहिष्कार या सीमा की अनुमति नहीं देते हैं। यदि इस समझौते में निर्धारित कोई अस्वीकरण या सीमा इस समझौते पर लागू राज्य के कानून का उल्लंघन करती है, तो समझौते की व्याख्या लागू राज्य कानून द्वारा अनुमत अधिकतम अस्वीकरण या सीमा के रूप में की जाएगी। इस समझौते के किसी भी प्रावधान की अमान्यता या अप्रवर्तनीयता शेष प्रावधानों को अमान्य नहीं करेगी।

1.F.6. क्षतिपूर्ति - आप फाउंडेशन, ट्रेडमार्क स्वामी, फाउंडेशन के किसी भी एजेंट या कर्मचारी, इस समझौते के अनुसार प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ इलेक्ट्रॉनिक कार्यों की प्रतियां प्रदान करने वाले किसी भी व्यक्ति, और प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ इलेक्ट्रॉनिक कार्यों के उत्पादन, प्रचार और वितरण से जुड़े किसी भी स्वयंसेवक को कानूनी शुल्क सहित सभी देयताओं, लागतों और खर्चों से हानिरहित रखने के लिए सहमत हैं, जो सीधे या अप्रत्यक्ष रूप से निम्नलिखित में से किसी से उत्पन्न होते हैं जो आप करते हैं या होने का कारण बनते हैं: (ए) इस या किसी भी प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ कार्य का वितरण, (बी) किसी भी प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ कार्य में परिवर्तन, संशोधन, या जोड़ना या हटाना, और (सी) आपके द्वारा उत्पन्न कोई भी दोष।

खंड 2. प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ के मिशन के बारे में जानकारी

प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™, अप्रचलित, पुराने, मध्यम आयु वर्ग के और नए कंप्यूटरों सहित, विभिन्न प्रकार के कंप्यूटरों द्वारा पढ़े जा सकने वाले प्रारूपों में इलेक्ट्रॉनिक कार्यों के मुफ़्त वितरण का पर्याय है। यह सैकड़ों स्वयंसेवकों के प्रयासों और सभी क्षेत्रों के लोगों के दान के कारण अस्तित्व में है।

स्वयंसेवकों को आवश्यक सहायता प्रदान करने के लिए स्वयंसेवक और वित्तीय सहायता, प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ के लक्ष्यों को प्राप्त करने और यह सुनिश्चित करने के लिए महत्वपूर्ण हैं कि प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ संग्रह आने वाली पीढ़ियों के लिए निःशुल्क उपलब्ध रहे। 2001 में, प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग लिटरेरी आर्काइव फ़ाउंडेशन की स्थापना प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ और आने वाली पीढ़ियों के लिए एक सुरक्षित और स्थायी भविष्य प्रदान करने के लिए की गई थी। प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग लिटरेरी आर्काइव फ़ाउंडेशन के बारे में और आपके प्रयासों और दान से कैसे मदद मिल सकती है, इसके बारे में अधिक जानने के लिए, www.gutenberg.org पर अनुभाग 3 और 4 और फ़ाउंडेशन सूचना पृष्ठ देखें।

खंड 3. प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग लिटरेरी आर्काइव फाउंडेशन के बारे में जानकारी

प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग लिटरेरी आर्काइव फ़ाउंडेशन एक गैर-लाभकारी 501(c)(3) शैक्षिक निगम है जो मिसिसिपी राज्य के कानूनों के तहत संगठित है और आंतरिक राजस्व सेवा द्वारा कर-मुक्त दर्जा प्राप्त है। फ़ाउंडेशन का EIN या संघीय कर पहचान संख्या 64-6221541 है। प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग लिटरेरी आर्काइव फ़ाउंडेशन को दिए गए योगदान पर अमेरिकी संघीय कानूनों और आपके राज्य के कानूनों द्वारा अनुमत पूर्ण सीमा तक कर कटौती योग्य है।

फ़ाउंडेशन का व्यावसायिक कार्यालय 809 नॉर्थ 1500 वेस्ट, साल्ट लेक सिटी, यूटी 84116, (801) 596-1887 पर

स्थित है। ईमेल संपर्क लिंक और नवीनतम संपर्क जानकारी फ़ाउंडेशन की वेबसाइट और आधिकारिक पृष्ठ www.gutenberg.org/contact पर उपलब्ध है।

खंड 4. प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग लिटरेरी आर्काइव फाउंडेशन को दान के बारे में जानकारी

प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ अपने मिशन को पूरा करने के लिए व्यापक जन समर्थन और दान पर निर्भर है और इसके बिना चल नहीं सकता। यह सार्वजनिक डोमेन और लाइसेंस प्राप्त कार्यों की संख्या बढ़ाने का लक्ष्य रखता है, जिन्हें मशीन-पठनीय रूप में स्वतंत्र रूप से वितरित किया जा सकता है, जो पुराने उपकरणों सहित विभिन्न प्रकार के उपकरणों द्वारा सुलभ हैं। कई छोटे दान ($1 से $5,000) आईआरएस के साथ कर छूट की स्थिति बनाए रखने के लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं।

फ़ाउंडेशन संयुक्त राज्य अमेरिका के सभी 50 राज्यों में धर्मार्थ कार्यों और धर्मार्थ दान को नियंत्रित करने वाले कानूनों का पालन करने के लिए प्रतिबद्ध है। अनुपालन आवश्यकताएँ एक समान नहीं हैं और इन आवश्यकताओं को पूरा करने और बनाए रखने के लिए काफी प्रयास, कागज़ी कार्रवाई और कई शुल्क लगते हैं। हम उन स्थानों पर दान नहीं मांगते जहाँ हमें अनुपालन की लिखित पुष्टि नहीं मिली है। दान भेजने या किसी विशेष राज्य के अनुपालन की स्थिति जानने के लिए www.gutenberg.org/donate पर जाएँ ।

यद्यपि हम उन राज्यों से दान नहीं मांग सकते और न ही मांगते हैं, जहां हमने दान मांगने की आवश्यकताएं पूरी नहीं की हैं, फिर भी हम ऐसे राज्यों के उन दानदाताओं से अनचाहा दान स्वीकार करने पर किसी प्रतिबंध के बारे में नहीं जानते हैं, जो दान देने के प्रस्ताव के साथ हमारे पास आते हैं।

अंतर्राष्ट्रीय दान कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किए जाते हैं, लेकिन हम संयुक्त राज्य अमेरिका के बाहर से प्राप्त दान पर कर संबंधी कोई बयान नहीं दे सकते। अकेले अमेरिकी कानून ही हमारे छोटे से स्टाफ को प्रभावित करते हैं।

कृपया वर्तमान दान विधियों और पतों के लिए प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग के वेब पेज देखें। दान कई अन्य तरीकों से भी स्वीकार किए जाते हैं, जिनमें चेक, ऑनलाइन भुगतान और क्रेडिट कार्ड से दान शामिल हैं। दान करने के लिए, कृपया www.gutenberg.org/donate पर जाएँ।

अनुभाग 5. प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ इलेक्ट्रॉनिक कार्यों के बारे में सामान्य जानकारी

प्रोफ़ेसर माइकल एस. हार्ट, इलेक्ट्रॉनिक कृतियों के एक ऐसे पुस्तकालय की प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ अवधारणा के जनक थे जिसे किसी के भी साथ स्वतंत्र रूप से साझा किया जा सकता था। चालीस वर्षों तक, उन्होंने केवल स्वयंसेवी सहायता के एक ढीले नेटवर्क के साथ प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ ई-पुस्तकों का निर्माण और वितरण किया।

प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ ई-पुस्तकें अक्सर कई मुद्रित संस्करणों से बनाई जाती हैं, और ये सभी अमेरिका में कॉपीराइट द्वारा सुरक्षित नहीं हैं, जब तक कि कॉपीराइट नोटिस शामिल न हो। इसलिए, हम ई-पुस्तकों को किसी विशेष पेपर संस्करण के अनुरूप नहीं रखते हैं।

अधिकांश लोग हमारी वेबसाइट से शुरुआत करते हैं, जिसमें मुख्य पीजी खोज सुविधा है: www.gutenberg.org ।

इस वेबसाइट में प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग™ के बारे में जानकारी शामिल है, जिसमें प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग लिटरेरी आर्काइव फाउंडेशन को दान कैसे करें, हमारी नई ई-पुस्तकें तैयार करने में कैसे मदद करें, और नई ई-पुस्तकों के बारे में जानने के लिए हमारे ईमेल न्यूज़लेटर की सदस्यता कैसे लें, आदि शामिल हैं।